जब बाग़बान जी शाम को आये तब उन्होंने बाग़ में पैाधे लगे हुए पाये; परन्तु सब उलटे सीधे। जिस क्यारी में अनार लगाना था वहां नारङ्गी; जहां सेब वहां नाशपाती; जहां अख़रोट वहां बादाम। इसी तरह उसने क्रम भङ्ग पाया। इसपर उसे बड़ा क्रोध आया और सब पेड़ उखाड़कर उसने उन्हें ज़मीन पर रख दिया, और उनकी जड़ें को मिट्टी से ढक दिया। यह समाचार जब नजूमी साहब को मिला तब वे आग-बबूला हो गये। आप तुरन्तही शाह के पास पहुँचे और बाग़बान की गुस्ताख़ी का वर्णन, ख़ूबही नमक मिर्च लगाकर, उन्होंने शाह से किया। शाह ने बाग़बान को तत्काल पकड़ मँगाया। यह जब शाह के सम्मुख उपस्थित हुआ तब वहां नजूमी जी भी बैठे थे। शाह ने बाग़बान की ओर आरक्त-नेत्र होकर देखा और कहा -"रे बदज़ात, मैंने अपने हाथ से आज १ बजे जिन पेड़ों को लगाया उसे तू ने उखाड़ डाला? वे पेड़ ऐसे अच्छे मुहूर्त में लगाये गये थे कि वैसा अच्छा मुहूर्त अब शायद कभी न आवै; और शायद अब कभी वहां पर अच्छा बाग़ न तैयार हो सके। अच्छा मुहूर्त हमेशा नहीं आया करता। यह सब उस बाग़बान ने चुपचाप सुना। जब शाह अब्बास की वक्तता समाप्त हुई तब, उनसे कुछ न कहकर, उस बाग़बान ने नजूमी जी की ओर अपना मुँह फेरा और इस प्रकार, उनकी प्रशंसा की। "धन्य आप का ज्योतिष-ज्ञान! आप ज्योतिषी नहीं, महा-ज्योतिषी हैं!! क्या कहना है? आपके मुहूर्त में लगाया गया बाग़ कुछ ही घण्टे बाद उखड़ गया!!! वह वा; सचमुच वह बहुतही अच्छा मुहूर्त था!" शाह अब्बास, इन विलक्षण व्यंग्यों को सुनकर खब हँसा; और ज्योतिषी महाशय की ओर पीठ करके, वहां से चल दिया।





श्रीमान् राजा रामपालसिंह

सरस्वती
सचित्र मासिक पत्रिका।
१९०४

भाग ५.] मई, १९०४ [संख्या ५

राजा रामपालसिंह।

सरस्वती की किसी संख्या में राजा कमलानन्दसिंह का संक्षिप्त जीवन-चरित प्रकाशित हो चुका है। आज, हम, वैसे ही एक और भूमि-स्वामी का चरित प्रकाशित करते हैं। ऐसे भूमि-स्वामी का चरित,-जिसे अपनी मातृभाषा से निरतिशय प्रेम है; जिसने, इस देश की बात जाने दीजिए, इङ्गलैण्ड की राजधानी लण्डन से हिन्दी में अख़बार निकाल कर बहुत दिनों तक उसे प्रचलित रक्खा; जो हज़ारों रुपये ख़र्च करके, कोई १८ वर्ष से, एक दैनिकपत्र हिन्दी में निकाल रहा है; और जिसे हिन्दी के साथ ही अँगरेज़ी, फ़ारसी और संस्कृत में भी विज्ञता है। श्रीमान् होकर--राजा होकर—जो पुरुष इतना विद्या-व्यसनी है और जो अपनी देश-भाषा को इतनी पूज्य-दृष्टि से देखता है, उसका चरित, केवल इन्हीं गुणों के कारण, सर्वथा लेख्य, पाठ्य और विचारणीय है। यों तो बड़े बड़े महात्माओं में दोष देखे जाते हैं; ऋषियों तक के चरित निर्दोष नहीं हैं; ईश्वर तक को कोई कोई बुरा भला कहते हैं। परन्तु इससे क्या? हमको केवल अनुकरणीय बातों का अनुकरण करना चाहिए; उन्हींसे हमको लाभ उठाना चाहिए। राजा रामपालसिंह में तो अनेक गुण अनुकरणीय हैं।

अवध में बिसेन वंश के क्षत्रियों की बहुत अधिकता है। रायबरेली के ज़िले में, हमारी जन्मभूमि के पास, दूर दूर तक, अनेक गांव ऐसे हैं जिनमें केवल बिसेन क्षत्रियों की बस्ती है। रायबरेली, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, गोंड़ा और बहरायच में, सब मिला कर, कोई चौदह पन्द्रह बिसेन-वंशी तअल्लुक़ेदार हैं। प्रतापगढ़ ज़िले के अन्तर्गत कालाकांकर (रामपुर) और धारूपुर के तअल्लुक़ेदार राजा रामपालसिंह बिसेन ही वंश के क्षत्रिय हैं। इनकी राजधानी कालाकांकर है। यह स्थान गङ्गा के बिलकुल तट पर है। कालाकांकर जाने के लिए इलाहाबाद के पास सिराथू के रेलवे-स्टेशन

पर उतरना पड़ता है। वहां से कालाकांकर थोड़ी ही दूर है।

अवध का बिसेन-वंश मझौली के क्षत्रियों की एक शाखा है। ११९३ ईसवी के लग भग सूबे अवध के मानिकपुर नगर में राठौर वंशीय मानिकचन्द नामक राजा राज्य करता था। मांड़ा और विजयपूर के गहरवार राजे इसी वंश से हैं। जोधपुर, बीकानेर और रतलाम इत्यादि के शासनकारी राजे महाराजे भी इसी वंश से उत्पन्न हैं। मानिकचन्द के भाई का नाम जयचन्द था, जो क़न्नौज का महाराजा था। जयचन्द के एक कन्या थी। उसका विवाह मझौली के तत्कालीन राजा के राय होम नामक पुत्र से हुआ। इस उपलक्ष्य में राय होम को डेरवा का तअल्लुक़ा मिला। अतएव उसके वंशज वहीं, अवध में, रहने लगे। कालान्तर में इस तअल्लुक़े के तीन भाग होगये—डेरवा, धिङ्गवस और रामपुर। राजा रामपालसिंह रामपुर की रियासत के अधिकारी हैं। गहरवार क्षत्रिय क़न्नौज के प्राचीन और प्रसिद्ध राठौर राजवंश के ही अंकुर हैं। अतएव राजा साहब के पूर्वजों का मातृ-वंश भी एक बहुतही प्रतिष्ठित घराने से सम्बन्ध रखता है।

राजा रामपालसिंह के पिता का नाम लाल प्रतापसिंह और पितामह का राजा हनुमन्तसिंह था। कालाकाँकर का कोट राजा हनुमन्तसिंह ने १८३९ ई० में बनवाया था। उस समय उनको राय की पदवी थी। परन्तु १८४९ ईसवी में बादशाह-अवध ने उनको राजा माना। तबसे वे राजा कहलाये जाने लगे। अवध में जब पहले पहल ग़दर हुआ तब राजा हनुमन्तसिंह अँगरेज़ों के पक्ष में थे। उन्होंने उनकी बहुत कुछ सहायता भी की थी; यहां तक कि, उस समय, अपने ज़िले के समस्त अँगरेज़ों की उन्होंने रक्षा की थी। इन अँगरेज़ों में अवध के भूत-पूर्व चीफ़ कमिश्नर जेनरल बैरो भी थे। इन सबको राजा साहब ने इलाहाबाद सुरक्षित पहुँचा दिया था। परन्तु पीछे से उनका मन देश भाइयों के समझाने और ग्लानि दिलवाने से, कि उन्होंने अँगरेज़ों की सहायता की जो उनके देश भाई नहीं थे, फिर गया। इसलिये उन्होंने अँगरेज़ों के विपक्ष में खड्ग उठाया; और बड़ी वीरता से उनके साथ युद्ध किया। इन्हीं युद्धों में से, सुल्तानपुर ज़िले के चाँदा स्थान में, राजा हनुमन्तसिंह के ज्येष्ठ पुत्र, लाल प्रतापसिंह ने, एक युद्ध में, पतन पाया। अन्त में राजा साहब ने अँगरेज़ों की आधीनता स्वीकार करके अपनी राजनीतिज्ञता का परिचय दिया। इसका फल यह हुआ कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने राजा हनुमन्तसिंह की विपक्षता को भुला दिया और उनको उनकी रियासत का पूर्ववत् अधिकारी बना रहने दिया। यही न्याय्य भी था।

राजा रामपालसिंह लाल प्रतापसिंह के एक मात्र पुत्र हैं। इनके पिता का पतन इनकी शैशवावस्था ही में होगया था। अतएव इनकी शिक्षा का प्रबन्ध इनके पितामह राजा हनुमन्तसिंह ही के द्वारा हुआ; और समुचित हुआ। सुनते हैं, राजा साहब लड़कपन में बड़ेही चञ्चलस्वभाव थे। उनकी बुद्धि में तभी से तीव्रता दृग्गोचर होने लगी थी। उन्होंने बहुत छोटी उमर में विद्याभ्यास आरम्भ किया; और सात ही वर्ष के वय में नागरी अक्षरों में प्रवीणता प्राप्त करली। हिन्दी को वे भलीभांति लिख पढ़ लेने लगे। तदनन्तर उन्होंने फ़ारसी पढ़ना आरम्भ किया; और १२ वर्ष के वय में उसे भी बहुत कुछ सीख लिया। १८ वर्ष की उमर तक उन्होंने संस्कृत और अँगरेज़ी का अभ्यास किया। इस ६ वर्ष के परिश्रम से संस्कृत उनको समझ में आने लगी और अँगरेज़ी वे बोल लेने लगे। इनको इतना होनहार देखकर राजा हनुमन्तसिंह ने जीते ही जी, बिना किसी शर्त के, इनको अपने तअल्लुके का अधिकार दे दिया। अर्थात् अपने जीते ही उन्होंने इनको राजा बना दिया; उनकी इस अधिकार-प्राप्ति का दूसरा कारण यह था कि राजा हनुमन्तसिंह की आज्ञा को सिरपर धर कर अपने ९ वर्ष के पुत्र और युवा स्त्री को छोड़ इनके पिता लाल पतापसिंह जी ने रणभूमि में अपने प्राण दिये

थे। इस समय एक बात ऐसी हुई जिससे राजा साहब के पितामह और कुटुम्बियों का मन उनसे फिर गया। इसका कारण राजा साहब का धर्म्म-विश्वास था। इन्होंने अपना सिद्धान्त युवावस्था के आरम्भ ही में, "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" पर स्थिर कर दिया; और रूढ़ि तथा शास्त्र की आज्ञाओं से मिला हुआ हिन्दू-धर्म्म, जैसा सर्वसाधारण को मान्य है, इन्होंने त्याज्य समझा। इन्होंने अपने को अद्वैतवादी प्रकट किया; और रूढ़ि को बिलकुल ही तुच्छ माना। इसका फल यह हुआ कि इनके पितामह की सारी सहानुभूति इन पर से जाती रही और लोग भी इनको कुदृष्टि से देखने लगे। राजा हनुमन्तसिंह तो इनपर अत्यन्त ही कुपित हुए। "सिंह" तो वे यों भी थे, अब पौत्र के साथ नृ-सिंह का सा व्यवहार करने लगे। उनके क्रोध शान्त करने के लिए युवा राजा ने तअल्लुके का अधिकार, उनके जीवनान्त तक के लिए, फिर उन्हें दे दिया; और आपने गवर्नमेण्ट के दिये हुए आनरैरी असिस्टण्ट मैजिस्ट्रेट के पद को स्वीकार कर लिया। इस पद से सम्बन्ध रखनेवाली दो परीक्षायें भी राजा साहब ने पास कर लीं। परन्तु राजा साहब के धर्म्म-सम्बन्धी विचारों में भिन्नता होने के कारण उनके कुटुम्ब-वर्ग ने उनको बिलकुलही छोड़ दिया। उधर गवर्नमेण्ट के अधिकारियों ने भी उनसे कुछ उदासीनता दिखाई। अतएव राजा साहब का मन यहां रहने से उचाट हो गया। उन्होंने विलायत जाना चाहा। इस विचार का समाचार प्रकाशित होते ही उनके इष्ट मित्र, कुटुम्बी और सम्बन्धियों ने उनको बहुत कुछ समझाया, और जाने से रोका। परन्तु राजा साहब बड़ेही दृढ़-प्रतिज्ञ पुरुष हैं। उन्होंने किसीकी न सुनी। धर्म्म-च्युति की उन्होंने ज़रा भी परवाह न की। दूसरे लोग जिसे धर्म्म कहते हैं उसे उन्होंने धर्म्म ही नहीं समझा; फिर च्युति कैसी? राजा साहब के साथ उनकी रानी स्वभावकुँवरि भी तैयार हुईं। ये रानी साहबा रीवाँ के राजवंश से उत्पन्न थीं। उनको भी लोगों ने जाने से बहुत कुछ रोका; परन्तु सब व्यर्थ हुआ। अन्त में युवक राजा और रानी इङ्गलेण्ड के लिए प्रस्थान कर गये।

सुनते हैं, इङ्गलैण्ड पहुंच कर, राजा रामपालसिंह ने विद्योपार्जन में विशेष मनोनिवेश किया। वहां उन्होंने फ़्रञ्च और जर्मन भाषायें सीखीं; गणित-शास्त्र में भी अच्छा अभ्यास किया; और तर्क-शास्त्र में भी प्रवेश किया। इण्डियन असोसियेशन नाम की सभा में भी वे शामिल होते रहे; और तद्द्वारा इस देश के हित-साधन में यथा-शक्ति यत्न भी करते रहे। इस सभा के आप उपसभापति थे। जो हिन्दोस्तानी वहां क़ानून अथवा डाकृरी आदि सीखते थे उनको राजा साहब यथा-शक्य सहायता देते थे, सत्परामर्श देते थे, और समय समय पर उनसे मिलते थे। बड़े बड़े प्रतिष्ठित और उच्च-पदस्थ अँगरेज़ों से आपकी जान पहचान हो गई थी। राजा साहब सब कहीं आते जाते थे। सम्मान्य समाज में आपका आवागमन अबाध्य था। कभी कभी वे अपने यहां खाना और नाच तमाशे भी करते थे, जिसमें उनके परिचित अनेक साहब लोग आते थे। वहां पर सभा-समाजों में राजा साहब इस देश के सम्बन्ध में कभी कभी व्याख्यान भी देते थे। इङ्गलैण्ड में रह कर राजा रामपालसिंह ने एक बहुतही अच्छा काम किया। वह यह है कि वहां से इन्होंने "हिन्दोस्थान" नाम का एक त्रैमासिक पत्र हिन्दी, उर्दू और अँगरेज़ी में निकालना आरम्भ किया। इसमें इस देश से सम्बन्ध रखनेवाले अच्छे अच्छे लेख निकलते थे। इसने कई अँगरेज़ों के हृदय में हिन्दी और उर्दू का प्रेम उत्पन्न कर दिया। यह पत्र १८८३ से १८८५ ईसवी तक निकलता रहा। इसके द्वारा भारतवासियों के दुःख और उनकी आवश्यकताओं को प्रकाशित करने, तथा उनके स्वत्वों की रक्षा करने के प्रयत्न में राजा साहब ने कोई त्रुटि नहीं की। राजा साहब की इङ्गलैण्ड में यहां तक प्रसिद्धि हुई कि "लण्डन फ़िगरो" नामक समाचार पत्र ने उनका संक्षिप्त जीवन-चरित प्रकाशित किया।

विलायत में राजा साहब पर एक बहुत बड़ी आपत्ति आई। उनकी प्रियतमा रानी का वहीं प्राणान्त हो गया। रानी साहबा की इच्छा थी कि यदि उनके जीवन का अन्त इङ्गलैण्ड ही में हो जाय तो उनकी अन्त्येष्ठि-क्रिया भारतवर्ष में यथा विधि की जाय। इस इच्छा को राजा साहब ने पूर्ण किया। रानी साहब के शरीर को, वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार, रासायनिक योग द्वारा, राजा साहब ने रक्षित रक्खा। उन्होंने उसे, इस प्रकार सुरक्षित करके, एक लम्बे सन्दूक़ में बन्द कर दिया और उसके ऊपर एक काँच लगवा दिया। इस काँच से रानी साहबा का मुख देख पड़ता था। इस पत्नी-वियोग से राजा साहब को बहुत दुःख हुआ। जब वे इस देश को लौटे तब अपनी रानी के शरीर को साथ लेते आये। यहां भागीरथी के तट पर यथाविधि उसका दाह हुआ।

इङ्गलैण्ड में राजा साहब की इच्छा पारलियामेण्ट (हाउस आफ़ कामन्स) में प्रवेश पाने की थी। परन्तु यहां से राजा हनुमन्त सिंह की मृत्युवार्ता-सूचक सम्वाद पाने पर उनको वह इच्छा छोड़नी पड़ी। कोई आठ, नव वर्ष विलायत में रह कर वे इस देश को लौट आये और लौट कर उन्होंने अपने राज्य का अधिकार प्राप्त किया।

अपनी रियासत का समुचित प्रबन्ध करके राजा रामपालसिंह दुबारा इङ्गलैण्ड गये। परन्तु इस बार वे वहां बहुत दिनों तक नहीं रह सके। उनकी अनुपस्थिति में उनके राज्य को हानि पहुँचने लगी। इसलिए वे शीघ्रही वहां से लौट आये। इस बार आपके विलायत जाने में लिखने लायक़ एक बात यह हुई, कि आपने वहां एक अँगरेज़ मेम के साथ विवाह किया और उन्हें यहां लेते आये। ये मेम साहबा रानी स्वभावकुँवरि से जान पहचान रखती थीं। जब राजा साहब पहली बार विलायत गये थे तब रानी साहब ही के द्वारा इनसे और राजा साहब से मित्रता हुई थी। खेद की बात है कि राजा साहब का सम्बन्ध इन मेम साहब से बहुत दिन तक नहीं रह सका। १८९७ में, मेम साहबा हैज़े से पीड़ित हो कर राजा साहब को सदा के लिए अपना वियोगी बना गईं। इस समय मेम साहबा का पद जिस रमणी-रत्न को मिला है उनका नाम राधा देवी है। राजा साहब ने अपने वसीयत-नामे में इनके लिए, अपने अनन्तर, २५० रुपए मासिक वेतन की योजना की है। इसके सिवा भोजन, स्थान, वाहन और सेवक आदि भी उनको मिलेंगे।

राजा रामपालसिंह कई बार प्रान्तिक कौंसिल में प्रजा की ओर से मेम्बर रह चुके हैं। आप के स्वभाव में स्वतन्त्रता की मात्रा बहुतही अधिक है। जब तक आपने कौंसिल की मेम्बरी की तब तक, दूसरों के मत की ज़रा भी परवाह न करके, जो कुछ आपने उचित समझा, उसे कहने और करने में बिलकुल सङ्कोच और भय नहीं किया। बहुत दिन तक आप नेशनल कांग्रेस (जातीय महासभा) के पक्षपाती रहे हैं। उस समय उसकी सफलता के लिए आप सदैव दत्तचित्त रहते थे; समय समय पर आप लेख लिखते थे; वार्षिक दौरा करके उससे होनेवाले लाभों को, व्याख्यान द्वारा, समझाते थे, और चन्दा तक वसूल करते फिरते थे। परन्तु कुछ दिनों से कांग्रेस के नायकों से आपका मेल नहीं मिलता। इसलिए उससे आप पृथक् हो गये हैं, परन्तु ऐसा होने से आप की देश-प्रीति कम नहीं हुई। वह वैसीही बनी हुई है; किम्बहुना, पहले से अधिक हो तो आश्चर्य्य नहीं।

राजा रामपालसिंह में सबसे अधिक प्रशंसनीय गुण उनका मातृ-भाषा-प्रेम है। इसका मूर्तिमान् उदाहरण उनका दैनिक पत्र "हिन्दोस्थान" है। इस पत्र को वे पहले लण्डन से तीन भाषाओं में निकालते थे। जब वे स्वदेश को लौट आये, तब १८८५ ई० के नवम्बर से, वे इसे कालाकाँकर से निकालने लगे। तबसे यह बराबर निकल रहा है। हिन्दी के साहित्य-संसार में अभी तक यही एक दैनिक पत्र था। गत महीने से अब अजमेर का "राजस्थान समाचार" भी दैनिक हो गया है। हिन्दोस्थान के

प्रति अङ्क में एक मुख्य लेख रहता है। इस पत्र के द्वारा राजा रामपालसिंह राजनैतिक, सामाजिक और साहित्य विषयक, प्रायः सभी विषयों पर, अपने भाव निर्भय होकर स्वतन्त्रता-पूर्वक प्रकट करते हैं। इसके सम्पादक स्वयं राजा साहब हैं। सहायता के लिए उन्होंने सहकारी सम्पादक भी रक्खे हैं; परन्तु उसके लेखों का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। इसके अतिरिक्त राजा साहब कई वर्षों से "हिन्दोस्थान" की एक अँगरेज़ी आवृत्ति जुदा ही निकाल रहे हैं। वह त्रि-सप्ताहिक है। उसके भी सम्पादक आपही हैं। उसके लिये उन्होंने एक अंगरेज़ सहकारी सम्पादक रक्खा है। आपका मत है कि जो जिसकी जन्म-भाषा है उसमें वह औरों की अपेक्षा अधिक योग्यता से लेख लिख सकता है। इसीलिए अँगरेज़ी हिन्दोस्थान के लिए उन्होंने अँगरेज़ की योजना की है। हिन्दी हिन्दोस्थान का टाइप अभी तक अच्छा न था। इस दोष को भी राजा साहब ने दूर कर दिया। अब उसके लिए नया टाइप आपने मँगा लिया है, और जब से यह पत्र इस नये टाइप में छपता है तबसे उसमें चारुत्व आगया है। ये दोनों पत्र कालाकाँकर से निकलते हैं। इनके निकालने में प्रतिवर्ष राजासाहब को बहुत कुछ हानि उठानी पड़ती है। परन्तु उनका अलौकिक मातृ-भाषा-प्रेम और उनका अलौकिक देशानुराग इस हानि को कुछ न समझ कर बराबर, उत्साह-पूर्वक, इन पत्रों को प्रकाशित कराने में राजासाहब को उद्युक्त किये हुए है। यह राजासाहब के लिए विशेष प्रशंसा की बात है। हम देखते हैं कि हिन्दी-भाषा-भाषी अनेक बड़े बड़े राजा और धनी लोग इस देश में हैं; परन्तु देश-हित और स्वभाषोत्कर्ष के निमित्त वे एक फूटी कौड़ी नहीं ख़र्च करते। यों, विलासिता अथवा किसी अनुपयोगी चन्दे में वे चाहै लाखों रुपए दे डालैं।

राजासाहब कविता भी करते हैं—हिन्दी और फ़ारसी दोनों में। उनकी कविता कभी कभी हिन्दोस्थान में प्रकाशित होती है। समस्यापूर्ति प्रकाश नामक पुस्तक में आपकी की हुई समस्या-पूर्तियों का संग्रह छपा है। इस संग्रह में कोई कोई पूर्तियां बहुत अच्छी हैं। फ़ारसी में बातचीत करने के लिए उन्होंने ख़ास फ़ारस से फ़ारसी के एक विद्वान् को अपने आश्रय में रक्खा है। और संस्कृत के भी कई एक पण्डित उनके यहां हैं। राजा साहब ने अपने विलायत-प्रवास का वर्णन अँगरेज़ी में लिख कर प्रकाशित किया है। यह प्रबन्ध विलायत से दूसरी बार लौटने पर आपने लिखा है। आप एक और भी पुस्तक बना रहे हैं। उस से अंगरेज़ी पढ़नेवालों को बहुत कुछ सहायता मिलैगी। उसका कुछ भाग प्रकाशित भी हो चुका है। राजा साहब के हिन्दी हिन्दोस्थान में जिस प्रकार की भाषा रहती है उस पर लोग कभी कभी आक्षेप करते हैं। भाषा पर नहीं, किन्तु लिपिप्रणाली पर कहना चाहिए। कितना के स्थान में 'क्यतना' और जितना के स्थान में 'ज्यतना' आदि प्रयोग जो हिन्दोस्थान में रहते हैं वे बहुधा लोगों को अच्छे नहीं लगते। इस प्रकार शब्द-योजना करने में राजा साहब शायद अपने ज़िले की ख़ास उच्चारण-पद्धति का अनुसरण करते हैं। उनका शायद यह भी मत है कि जो शब्द जैसा बोला जाय वह वैसाही लिखा भी जाय। ऐसा ही चाहिए भी। परन्तु लिपि के विषय में सर्व-सम्मत प्रणाली को ग्रहण करना चाहिए; और सार्वदेशिक उच्चारण के अनुसार शब्दों को लिखना चाहिए।

राजा साहब को संस्कृत और फ़ारसी के सामयिक पद्य कहने और लिखने में अच्छा अभ्यास जान पड़ता है। जब आप किसी के लेख, व्याख्यान अथवा पुस्तक की समालोचना करते हैं तब आप कभी कभी फ़ारसी के चुटीले मिसरे प्रयोग करते हैं। कभी कभी आप हिन्दी की कहावतैं भी लिखते हैं। जान पड़ता है कि, आपको रघुवंश का पहला सर्ग ख़ूब याद है। क्योंकि जब आप कभी व्याख्यान देते हैं अथवा किसीसे राजनीति-विषयक बात चीत करते हैं,

तब उसके दो एक पद्यों का प्रमाण आप अवश्य देते हैं। नीचे के दो श्लोक हमने कई बार सुने हैं—

(१) प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥ १८ ॥

(२) प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥ २४ ॥

ग्रैार सचमुच ये श्लोक राजों के याद करने ही लायक़ हैं।

राजा साहब की रियासत दो भागों में विभक्त है। एक उनकी पैतृक रियासत; दूसरी वह जिसे उन्होंने स्वयं प्राप्त किया है। उन्होंने अपने तअ़ल्लुके का ऐसा अच्छा प्रबन्ध किया है कि, जहां तक हम जानते हैं, उनकी प्रजा सुखी है। सुप्रबन्ध के कारण राजा साहब की आमदनी भी बढ़ गई है। यही कारण है जो वे नई सम्पत्ति सम्पादन करने में समर्थ हुए हैं। राजा रामपालसिंह के कोई सन्तति नहीं है। इस लिए वे चाहते हैं, कि अपने अनन्तर अपनी ज़मीदारी का वे अपनी इच्छा के अनुसार प्रबन्ध कर जायँ। वे अपने भतीजे लाल रमेशसिंह को अपनी पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी नहीं बनाना चाहते। राजा साहब की राय है कि काम वह करना चाहिए जिससे सांसारिक जनों का अधिक उपकार हो। इसी लिए वे अपनी इच्छा के अनुसार अपनी दोनों प्रकार की ज़मीदारियों का प्रबन्ध कर जाना चाहते हैं। परन्तु फल इस का यह हुआ है कि, इस समय, यह झगड़ा विलायत के प्रिवी कौंसल में पेश है। राजा साहब की स्वतः-प्राप्त सम्पत्ति सर्वथा उन्हींकी है; उसका वे जैसा चाहें प्रबन्ध कर सकते हैं अथवा जिसे चाहें उसे दे डाल सकते हैं। परन्तु पैतृक सम्पत्ति के विषय में उनकी यह काररवाई उनके मृत चचेरे भाई लाल रामप्रसादसिंह को पसन्द नहीं आई। इस लिए उन्होंने प्रतापगढ़ के सबजज के यहां इस बात की नालिश कर दी। इसमें राजा साहब ही की जीत हुई। इस की अपील जब जुड़ीशियल कमिश्नर के यहां हुई तब सबजज का फ़ैसला उलट दिया गया। अतएव अब राजा साहब ने इस मुक़दमे को प्रिवी कौंसल में पहुँचाया है। इस बीच में लाल रामप्रसादसिंह का शरीरान्त हो गया। इस लिये यह झगड़ा अब उनके पुत्र लाल रमेशसिंह ग्रैार राजा साहब के बीच में है। लाल रमेशसिंह भी पढ़े लिखे पुरुष हैं। उन को भी विद्या से अनुराग है। अतएव यदि कालेकाँकर की पुरानी तअ़ल्लुकेदारी के वे अधिकारी हुए, तो आशा है, उसका वे भी दुरुपयोग न करेंगे।

राजा साहब का खोला हुआ कालाकाँकर में उन के पितामह के नाम से एक स्कूल है। आपने कालाकाँकर ग्रैार धारूपुर में ग्रोषधालय भी खोल रक्खे हैं। आपही के उद्योग से कालाकाँकर में तार घर भी है। काश्तकारों को थोड़े ब्याज पर रुपया उधार देने के लिए, कुछ दिनों से, आप ने देहात में बैंक्स भी खोले हैं। गत वर्ष हिन्दोस्थान में राजा साहब का वसीयतनामा प्रकाशित हुआ था। इसे पढ़कर हम बहुत प्रसन्न हुए हैं। इसमें राजा रामपालसिंह अपने आश्रितों ग्रैार मुसाहबों को भी नहीं भूले। सबके लिए कुछ न कुछ जीविका का प्रबन्ध, आप ने अपने अनन्तर, करने की योजना की है। सबसे अच्छी बात, इस वसीयतनामें में, यह है कि राजा साहब ने "हिन्दोस्थान" के चिरकाल जीवन का प्रबन्ध कर दियाहै। आप ने कालेकाँकर के हनुमत् स्कूल को कालेज किये जाने तक की योजना भी की है। यह उनके विद्यानुराग का प्रखर प्रमाण है। यदि प्रिवी कौंसिल में विचाराधीन मुक़द्दमे में उनको सफलता न भी हुई, तोभी उनकी बाहूपार्जित सम्पत्ति से उनके पीछे उनके अनेक अभीष्ट कार्य हो सकेंगे।

राजा साहब केवल तअ़ल्लुकेदारही नहीं हैं। धन उपार्जन के लिए आप ने ग्रैार भी युक्तियों का अवलम्बन किया है। आप ने रेशम के कीड़े पाल रक्खे हैं। उनसे रेशम उत्पन्न कराया जाता है। उसके रेशमी वस्त्र भी आपके कारख़ाने में बनते हैं। आप व्यापार ग्रैार कला-कौशल के भी पक्षपाती हैं। पशु तक आपने पाल रक्खे हैं; अँगरेज़ी पशुशास्त्र के

अनुसार उनका पालन पोषण होता है; और उनकी वृद्धि की जाती है। यहां तक कि आप ने इलाहाबाद में स्टेशन के पास एक होटल तक खोल रक्खा है। वे नील की खेती और ग़ल्ले का व्यापार भी करते हैं।

राजा रामपालसिंह अपनी जाति के बड़ेही हितैषी हैं। राजपूत महा-सभा के आप आधाररूप हैं। उसे आप बहुत सहायता देते हैं। राजपूत सभा के लिए, आगरे के राजपूत बोर्डिङ्ग हाउस और स्कूल के लिए, तथा राजपूत पत्र के लिए आप ने आज तक हज़ारों रुपये दिये हैं, और अब तक आप बराबर देते जाते हैं।

राजा साहब के धार्म्मिक विचारों का उल्लेख, एक जगह, ऊपर हो आया है। आपके सामाजिक विचार भी नये प्रकार के हैं। बहुतसी पुरानी बातें आपको पसन्द नहीं हैं। आप समुद्र-यात्रा के समर्थक हैं; विधवा-विवाह के समर्थक हैं; और बाल-विवाह के बहुत ख़िलाफ़ हैं।

राजा रामपालसिंह, और राजों की तरह, अपने समय को व्यर्थ नहीं खोते। और कामों को करने के अनन्तर जो समय उनको मिलता है उसमें वे व्यायाम करते हैं; शिकार खेलने जाते हैं; और घोड़े अथवा पैरगाड़ी पर सवार होकर कोसों घूमने निकल जाते हैं। यह बहुत अच्छी बात है। इससे शरीर नीरोग रहता है। राजा साहब स्वस्थता के नियमों को भली भाँति जानते हैं।

हमने सुना है, कि राजा साहब को सङ्गीत विद्या में भी बहुत अनुराग है। शतरञ्ज के तो वे अद्वितीय खिलाड़ी हैं। कहते हैं कि, आज तक, उनको किसीने शतरञ्ज में मात ही नहीं दिया। इङ्गलेण्ड के खिलाड़ियों ने "अटोम्यटन" नामक एक यन्त्र बनाया है। यह यन्त्र स्वयं शतरञ्ज खेलता है। उसको हरा देना बड़ा कठिन काम है। परन्तु, सुनते हैं, राजा साहब ने, एक बार, उसे भी परास्त कर दिया!

हम राजा रामपालसिंह के गुणों की ओर देखते हैं। उनमें अनेक बातें अनुकरणीय हैं। वे आदर्श भूमि-स्वामी हैं; वे मातृ-भाषा के सच्चे प्रेमी हैं; वे क्षत्रियों के सविशेष सहायक और हित-चिन्तक हैं। स्वदेश-प्रीति भी उनमें कम नहीं है; विद्यानुराग भी उनमें कम नहीं है; व्यापार-कौशल भी उनमें कम नहीं है। फिर और क्या चाहिए?

"मृत्युञ्जय"।

[गत अंक के आगे]

[४७]

(धर चरिता)

सरन में, सरिता गन में, तथा
लखि परैं सोइ कौतुक काल के
खल भुवाल अरे तब जाल को
अति कराल विशाल प्रसार है।

[४८]

(शफरी)

चुट पुटी शफरी अति ऊजरी
रहति जो गहरी लहरीन में
पलहु को उचके गहि लेति सो
खल छली बगुला गल की गली।

[४९]

दुरि रहै जल भीतर मीन जो
बचत सोउ नहीं पल एक ह्वां
प्रविशि कै जल कीचहु बीच में
करत मीच क्रिया खग नीच* है।

[५०]

(दादुर)

निपट दीन दयावन दादुर
धुनि रुचै जिनकी बरसात में
तिनहु खात जहां तहँ खोजिकै
खल विहङ्गम और भुजङ्गम।

[५१]

(काल की प्रबलता)

नगर में, वन में, गिरि तुङ्ग पै,
पवन में, जल में, अरु भूमि में,

---

* चनडुब्बी से अभिप्राय है।

दिवस में, निस में, खल बापुरे
सब घड़ी तुव दाढ़ चलो करै।

[५२]

गति तजै सरिता बरु मन्द ह्वै,
दिनप चन्द तजैं बरु चाल के।,
पवन हू बरु बेग तजैं तऊ
निमिख ना मुख-ग्रास-विहीन तू।

[५३]

जल तजै बरु पानिपता सबै,
अनल त्याग करै बरु तेज के।,
प्रकृति ब्रह्मविलीन रहै, तऊ
कवल के बिन काल न तू रहै।

[५४]

असुर रावन से, शिशुपाल से.
भटमहा खरदूषन, बान से,
प्रबल कंस, बकासुर, ब्योम से
बहु बली कवलीकृत ह्वै गये।

[५५]

करन, अर्जुन, भीषम, भीम से,
शकुन से, दुरयोधन से बली,
समर-धीर समर्थ समस्त सो
इमि बिलीन भये जिमि बुल्बुले।

[५६]

(अद्भुत वियोग)

नित रहे जन जो दृग सामने
छिनक में नितके। छुटि जात यों
मनहु-जीवन-नाटक-अन्त में
जवनिका पट पात्रन पै परै।

[५७]

(असारता)

कोउ असार कहै जग जीवनै
जिमि परी घटिका बिच बालुका
कमल के दल पै जल बिन्दु लों
कोउ शरीर कहै छन भंगुर।

[५८]

कोउ शरीर बतावत है घड़ी
सबद जासु टकाटक नाटिका
मिनिट में कल के कछु फेर सों
यह चलै, न चलै, कह ठीक है ?

[५९]

कोउ कहै जग जीवन दीप है
सकल खेल लखो बस तेल के।।
पवन के इक घोर झकोर में
न लव मात्र कदाचित लैा रहै !

[६०]

अमित-शक्ति-मती अति भेद की
विदित देशन ग्रैार दिशान में
गति अपूरब काल कराल की
अति अपार अखण्ड प्रचण्ड है।

[६१]

(मुमुक्षु प्रश्न)

"केहि प्रकार अहो यहि जीतिये
परम आनँद पावन के। सदा"
यहि विचार निमग्न रहे तबै
सुनि परी इक चारु नभो-ध्वनि।

[६२]

(नभो-ध्वनि)

"करत क्रोध वृथा तुम काल तें
गहि प्रथा यह नीति-विरोध की,
परम-तत्व-प्रबोध विना सुनो
प्रबल-काल-विरोध न होत है।

[६३]

"लगत या अँग अस्त्र न शस्त्र है;
चलत या पर मन्त्र न जन्त्र है;
बस करो जो चहो तुम याहि तो
करहु सिद्ध प्रयोग विवेक के।"।

[६४]

(विवेक का उदय)

हित सनी इतनी सुनि वारता
जगि उठे चित अंकुर चेत के,
उठिगयो परदा सम सामने
लखि परयो सम पन्थ विवेक के।।

[६५]

(उपदेशक)

शिव, विरिञ्चि, विशारद, शारदा
सनक, नारद आदि कवीश्वर
कपिल, व्यास, वशिष्ठ, पतञ्जलि,
शुक, पराशर सागर ज्ञान के।

[६६]

भुवनवन्दित सूरज वंश के
अवध भूपति राम ललाम जो
परम भूषणचन्द्र सुवंश के
पतितपावन श्रीघनश्यामहू।

[६७]

सबन प्रानिन पै करुना करी
अरु कहो समुझाय सुरीति सो
अनुसरे जेहि के सुचि भाव सों
विजय पूरन पावहिं कालपै।

[६८]

(वैराग्य भाव)

जनन-मृत्यु-मयी जगदापदा
असहनीय महान सहे सहे।
यदि विराग सही चित में भयो
करहु तौ तुम साधन ज्ञान को।

[६९]

यदि लखात असार जहान है,
कुढ़त जो जगबन्धन ते हियो,
उदित जो उर मुक्ति सुकामना
करहु तौ तुम साधन ज्ञान को।

[७०]

(ज्ञान प्रयोजन)

तिमिर नाश प्रकाश बिना नहीं
घन बिलात न वात बिना यथा,
न बरखा बिन जात निदाघ ज्यों
मिटत काल नहीं बिन ज्ञान के।

[७१]

(प्रकृति ब्रह्म की अभिन्नता)

बिलग वारिधि तें न तरङ्ग है
पृथकता बरु मन्द बिचारहीं
लहर अम्बुध दोनहुँ अम्बु हैं
जगत ब्रह्म-मयो तिमि जानिये।

[७२]

कनक के बरु कङ्कन किङ्किनी
अमित आकृति के रचिये तऊ
कनक तें नहि अन्य कछू तथा
सकल ब्रह्म मयो जग जानिये।

[७३]

पवन भासत नाहिं बिना चले
अरु चले वह भासन लागई
अचल चञ्चल है इक ही हवा
पृथक मूढ़ भले समुझो करैं।

[७४]

एहि प्रकार अचञ्चल ब्रह्म में
स्फुरण चञ्चलता सम जानिये
जगत भासन लागत है सही
पृथक तौन नहीं पर ब्रह्म सों*।

[७५]

भवन में, मठ में, घट में, यथा
गगन देखि अनेक परैं तऊ
विमल बुद्धिन को नभ एक है
सबन में परमातम है तथा।

[७६]

(ज्ञान)

जगत है मन की सब कल्पना
दृढ़ जबै यह निश्चय होत है
जगत भासत पूरन ब्रह्म ही
बस वही परिपूरन ज्ञान है।

[७७]

(वासना की बाधा)

पर दशा वह पूरन ज्ञान की
स्थिर सदा रस एक रहै नहीं
न जब लौं मन को बस कीजिये
तजि सबै जड़जङ्गम वासना।

[७८]

जगत बीज स्वरूप जो वासना
मरन जीवन रूख बनै सोई

* जैसे बेगवाली हवा स्थिर हवा से भिन्न नहीं है।

प्रबल संयम पावक में पकै
उचित है तेहि राखहु राखकै * ।

[७९]

सुहृद सङ्गि सहोदर सुन्दरी
सुखद सन्तति धाम वसुन्धरा
सुजस सम्पति की मनकामना
सबन को बस बन्धन मानिये ।

[८०]

(सृष्टि भ्रम)

दनुजवंश, भुजङ्गम, देवता,
मनुज, कुञ्जर, भृङ्ग, विहङ्गम,
विपिन, तुङ्गतड़ाग, तरङ्गिनी,
जलद-वृन्द, दिवाकर, चन्द्रमा ।

[८१]

गगन मध्य, धरातल मध्य में,
अरु रसातल में जितनो जिते
सकल सो जड़ जङ्गम जानिये
असतपञ्चप्रपञ्च विरिञ्चि को ।

[८२]

जग असत्य, अनित्य, असार है
सत सदा इक पूरनब्रह्म ही,
परत दृष्टि तुम्हैं यह सृष्टि सो
सकल जानहु केवल कल्पना ।

[८३]

(शान्ति का उपाय)

अमर ब्रह्म विहाय विमूढ़ जो
मन लगावत वस्तु असार पै
मृग समान मनैा वह प्यास को
शमन चाहत मन्द मृगाम्बु सों ।

[८४]

(वृथा भय)

भुजग सी जिमि भासति रज्जुका,
शिशु लखै जिमि प्रेतहि छांह में,
नर विवेक-विचार-विहीन त्यों
अति कराल विचारत काल को ।

* भुना हुआ बीज अंकुरित नहीं होता ।

[८५]

सुमतिवानन के मत में सुनैा
कछुक वस्तु नहीं यह काल है
घड़िहु के सपने मँह देखिये
विपुल वासर होत प्रतीत हैं ।

[८६]

(ज्ञान साधन)

शम-दमादिक सम्पति जो कहीं
सुखद साधन है तिन को सदा
उचित ग्रन्थन सों, सतसङ्ग सों,
मनन कै लहिये गति ज्ञान की ।

[८७]

सकल पापन सों बचि कै सदा,
शुभ सुकर्म करैा बिन वासना,
परम सार रहै नित ध्यान मैं,
सुखद पन्थ यही वर ज्ञान को ।

[८८]

चरित-चिन्तन देव ऋषीन को,
हरि-हरादिक की शुभअर्चना,
सुगुरु सेवन तीरथ आदि सों
सुगम होत सदा मग ज्ञान को ।

[८९]

अनुसरैा निगमागम नीति को,
सबहि को उपकार करैा सदा,
जगत के व्यवहार करैा सबै,
जमन पै मन देहु न वासना ।

[९०]

(ज्ञान की अवस्था)

परमज्ञान विलीन करै अहम्
जगत होय विलीन तबै स्वयम्
वह कथा सब सारवती फुरै
जिमि महेश हन्यो त्रिपुरासुरै * ।

* इस श्लोक का भाव कदाचित् कुछ गूढ़ है । दो एक स्थल और भी कदाचित् प्रसादरहित प्रतीत हों। पाठकगण इस गूढ़ता को इस समय क्षमा करें, क्योंकि ऐसे विषयों की व्याख्या, (हरि कृपा से) स्वतन्त्र लेखों द्वारा की जावेगी । "पूर्ण" ।

[९१]

(धीरता)

गति सुधारन की करि धारना
उचित है चित धीरज धारिबौ
झटित हो, अथवा, कछु काल में
अवशि जोतहिंगे हम काल को।
राय देवीप्रसाद "पूर्ण"।

"तुम वसन्त सदैव बने रहो"।

[१]

न गन्ध कोई, नहिँ पुष्प-वाटिका,
न पुष्प-गुच्छे सित सेज पै पड़े।
रसाल तौभी हमको मनोहरा,
सुगन्धि देता सुखदा, वसन्त में ॥

[२]

न स्वच्छता हेत पवित्र होम है,
निरोग होते जिससे मनुष्य हैं।
तथापि त्वत्पुष्पितपुष्पगन्ध से,
प्रसन्न होता मन है, वसन्त हे ॥

[३]

हिमर्तु में शीत कड़ा पड़ा करै,
असह्य होता वह वस्त्रहीन को।
इसी लिए मान मदीय प्रार्थना,
वसन्त तू बारह मास ही रह ॥

[४]

कभी न पाते घृत दुग्ध स्वप्न में,
रहैं क्षुधापीड़ित जो सदैव ही।
मिलै तिन्हें अन्न दुबेर चैत्र में,
बने रहो क्यों न वसन्त नित्य ही ?

[५]

नहीं फुहारे जलयन्त्र के यहां,
न वायुही सौरभ गन्ध से सनी।
न टट्टियां हैं खस की लगी हुई,
गुलाब पाटीरज-नीर भी नहीं ॥

[६]

तृषा विनाशार्थ न बर्फ है यहां,
न सेज पै सीतल पाटि ही बिछी।
नहीं मसाला कुछ भी निदाघ का,
दया करो देव तुम्हो बने रहो ॥

[७]

धरे रहैं जो हिय बीच शत्रुता,
करैं नमस्कार कदापि जो नहीं।
मिलाप, वे भी, चल आपही सदा,
विहाय वैरत्व करैं वसन्त में ॥

[८]

न गान होते मृदुमिष्टता भरे,
कथा कहां पञ्चम के अलाप की ?
सदैव तौभी कलकण्ठ कण्ठ से,
सुनावती कूक हमैं वसन्त में ॥

[९]

नहीं कभी जो जपते रमेश को,
न राम सीता, नहिँ कृष्ण राधिका।
बनाय होली तिन की कथामयी,
सहर्ष गाते तुम में, वसन्त हे ॥

[१०]

अधिक घाम नहीं, नहिँ शीत ही,
न पददाहक धूलि तपी हुई।
पथिक जोड़ करद्वय माँगते,
"तुम वसन्त सदैव बने रहो" ॥
यमुनाप्रसाद पाण्डेय।

रामलोचन साह।

[एक सत्य घटना के आधार पर लिखा गया]

मार्ग बड़ाही बीहड़ था। कोसों तक, जिधर आंखैं उठाकर देखिए उधर ही, गांव की कौन कहै, कोई झोपड़ी तक नहीं देख पड़ती थी; ऊंचे नीचे टेढ़े मेढ़े टीलेही टीले चारों ओर फैले हुए थे।

धूप भी ऐसी कड़ी पड़ रही थी कि पथिक का जीही जानता होगा। आषाढ़ का महीना लग चुका था, परन्तु वृष्टि का चिन्ह तक नहीं था। ऊंचे नीचे मार्ग पर धूप में चलते चलते रामलोचन घबरा गया। पैरों में छाले पड़ गये थे; प्यास के मारे उसके प्राण निकल रहे थे; परन्तु जल का कहीं नाम तक वहां न था। बार बार जी चाहता था कि थोड़ी दूर तक कहीं ठहर कर थकावट मिटा ले, परन्तु ठहरता कहां ? न कोई पेड़ था न कोई हरी झाड़ी। हां, बबूल ग्रैर झरबैरियों के सूखे पेड़ जहां तहां अवश्य खड़े थे। उनसे छाया मिलनी तो दूर, विचारे के पैरों के छाले कांटे गड़ जाने से अधिक दुखदाई हो रहे थे। रामलोचन सोचता था, कि हा भगवान, आज यह किस आपत्ति में मैं फसा ! मैंने तो सीधी राह ली थी, कैान जानता था कि राह भूल कर यहां आ पहुंचूंगा ! अब तो मुझसे चला नहीं जाता। पहले कभी ऐसा दुख मैंने नहीं झेला था। हे राम ! अब मैं क्या करूं ?

राम ने कुछ उत्तर दिया नहीं; उलटा बेचारे के छालों में एक ऐसी कंकड़ी चुभ गई, कि वह चीख़ मार कर बैठ गया। प्रचण्ड धूप से पीड़ित ग्रैार घायल पैरों से व्याकुल होने से रामलोचन के होश जाते रहे। उसके दोनो लोचनों में अंधेरा छा गया। प्राण कंठ में आ गये; हाथ पैर सब ढीले पड़ गये; जगत की सुध बुध सब जाती रही। वह चेतना रहित होकर पड़ गया।

कुछ देर जब उसे इसी भांति पड़े पड़े हो गये तब घट घट के अन्तर्यामी उस लीलामय ने अपनी इस लीला का सम्वरण करना चाहा। ज़बर्दस्तपुर थाने का थानेदार उस समय कार्यवश दो चार मनुष्यों को साथ लेकर वहां से आ निकला ग्रैार पगडंडी पर एक टीले के नीचे मृतवत् एक मनुष्य को पड़ा देख उसने घोड़ा रोक लिया। उसके साथियों में से एक मनुष्य के गले में जल की एक सुराही बँधी थी। उस बीहड़ देश के राही बटोही सुराही में जल ले कर पहले अपने गले में टांग लेते हैं, तब एक गांव से दूसरे गांव को जाते हैं। रामलोचन के मुख में उस मनुष्य ने पहले दो चार बूंद जल डाला, फिर धीरे से उसका मुख फैला कर उसे जलपान करवाया। रामलोचन की आंखें खुलीं; हाथ पैरों में धीरे धीरे फिर रुधिर का सञ्चार हुआ। थानेदार साहब पुलिस के अफ्सर थे; उनसे इतनी देर चुपचाप कैसे रहा जाता। रामलोचन को उन्होंने एक ऐसी दपट दिखाई कि उसका कंठ फिर सूख गया। बार बार पूंछने पर भी वह ठीक ठीक उत्तर न दे सका। तब तो दारोगा जी ने अपनी तीव्र बुद्धि के बल से सबको समझा दिया कि यह कोई ठग या चोर है; नहीं तो अपना हाल ठीक ठीक क्यों नहीं बताता। सुराहीवाले मनुष्य ने इस समय करुणार्द्र होकर रामलोचन को फिर थोड़ा सा जल पिलाया जिससे उसकी तबीयत बहुत कुछ ठिकाने हुई। उसने धीरे धीरे सबको समझा दिया कि मैं अमुक स्थान से आता हूं। राह भटक जाने के कारण मेरी यह दुर्दशा हुई है। मुझे अमुक स्थान में अमुक महाजन के पास जाना है। उसे कुछ रुपए देने के लिए जाता हूं। धन्य लक्ष्मी ! तेरी महिमा की बलिहारी है ! धन का नाम सुनते ही दारोगा जी की आँख बदली ग्रैार पहले से कुछ नम्रता के साथ उन्होंने कहा, कि तेरी कमर में कितने रुपए हैं ? रामलोचन ने कहा ५००। दारोगा जी बड़े बुद्धिमान थे; तुरन्त जान गये कि यह कोई मालदार आदमी है; चोर नहीं हो सकता। उन्होंने उसे उसके बतलाए हुए गांव का पता निश्चित किया ग्रैार उनका निश्चय ठीक भी था। उसे बहुत थका माँदा देख कृपा-वश होकर उन्होंने एक मनुष्य को अपने टट्टू से उतरवाकर उस पर रामलोचन को सवार करवा दिया।

थाने पर पहुंचते पहुंचते संध्या हो गई। दारोगा ने सब लोगों को अपने अपने कार्य पर नियुक्त कर दिया ग्रैार रामलोचन के लिये एक फुलवारी में खटिया डलवा दी। वह उसी पर पड़ा पड़ा आगा पीछा सोचता रहा।

कुछ मन में जो उसके आ गई तो वह उठकर इधर उधर दो चार पांव टहलने लगा। देखा कि फुलवारी, एक ऊंची भूमि के किनारे पर है। एक स्थान पर भूमि कुछ फट सी गई है। उस ओर उस ने जो झुक कर देखा, तो जान पड़ा, कि नीचे पहाड़ के खड्ड के समान एक बड़ा गहरा नाला है। यदि कोई उसमें गिरे तो उसकी हड्डियां चकना चूर हो जावें। पहले दारोग़ा की रुखाई फिर नम्रता को वह देख चुका था और इससे उसका मन सन्दिग्ध हो रहा था। वह सोचने लगा कि 'भाई, आज अच्छी सायत में घर से नहीं चले; कैसी कैसी आपत्ति में पड़े; अब आगे को सावधान रहना चाहिए। क्या जाने किसीके मन में कुछ पाप आवै। रुपए का भेद खोलकर मैंने भला नहीं किया। ईश्वर मालिक है'। वह फिर जाकर उसी खटिया पर पड़ रहा और सोचने लगा कि यहां से हटकर कहीं और रहना चाहिए, नहीं तो क्या जाने कोई मुझे मार कर इस गढ़े में डाल दे। ऐसा सोच ही रहा था कि वहां पर दारोग़ा जी आ पहुंचे। उनको आते देख रामलोचन निद्रा का बहाना कर पड़ रहा। दारोग़ा ने सोचा कि यह राह का हारा हुआ है; आज ख़ूब सोवेगा।

जब दारोग़ा वहां से चला गया और रात कुछ बीत गई तब रामलोचन चुपके से उठकर पास के एक पीपल के वृक्ष पर चढ़ गया। और वहीं उसने रात भर व्यतीत करने की मन में ठानी।

अब लीलामय की और लीला देखिए। एक मनुष्य वहां पर आया, और चारपाई को पड़ी देख उस पर जा सोया। शीतल वायु मन्द मन्द चल रही थी; उसके देह में लगते ही, वह मनुष्य सुख से निद्रा की गोद में हो गया। पर, हा! वह कब जानता था कि इस निद्रा से उसका जागरण असम्भव था; यह निद्रा उसके लिये काल निद्रा थी; जिस शय्या पर वह सोता था वह उसकी अनन्त-शय्या थी। क्योंकि जब आधी रात बीत गई तब दारोग़ा जी एक और मनुष्य को साथ लेकर वहां आये, और तलवार की एक ही चोट से उस अभागे का मस्तक उन्होंने धड़ से अलग कर दिया।

दारोग़ा जी ने जब मृत मनुष्य की कमर टटोली तब वे बहुत घबराये; वहां कुछ भी न पाया। वे जान गये कि शिकार भाग गया; उसके बदले कोई और आ फंसा। उन्होंने मुख पर लालटैन जला कर जो देखा तो चिल्ला उठे और धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़े! हाय, हाय, यह क्या हुआ! यह तो स्वयं दारोग़ा जी का वंशधर, उन्हींका एकलौता पुत्र, अपने पिता ही के हाथ से मारा गया!! लीलामय! तेरी लीला अपरम्पार है!!

* * * * *

ज्यों त्यों कर रात बीती। अभी भली भांति दिन निकलने को बहुत बिलम्ब था। प्रकृति देवी बहुत धीरे धीरे अपने काले घूंघट को हटा कर अपने उज्वल मुख का प्रकाश दिखाने लगी थीं; चन्द्रमा रात भर कहीं और काट कर चलती बेर निर्लज्ज की भांति एक क्षण भर के लिये अपने करों से कुमुदिनी के कोमल कपोलों को स्पर्श कर रहा था, कि उसे देखकर घोसलों से पक्षियां सिर निकाल कर छी! छी!! छी!!! कह कर बोल उठीं। बेचारी कुमुदबाला मारे लाज के कुम्हला गई। ठीक उसी समय रौंद फिर कर चार सरकारी सवार घोड़े बढ़ाते हुए वहां आ निकले। वे लोग ज्यों हीं थाने की फुलवारी के पास पहुंचे, त्यों ही पीपल की ऊंची शाखा से 'दुहाई सरकार की! मेरे प्राण बचाओ, नहीं तो मैं यहां से जीता न निकल सकूंगा!' इस प्रकार की चिल्लाहट रामलोचन के मुख से निकली हुई सुन पड़ी। उसी दम सब भेद खुल गया। पापी के पाप का उचित प्रायश्चित्त हुआ और लीलामय की एक अद्भुत लीला की समाप्ति भी हो गई।

पार्वतीनन्दन।

साहित्य।

बहुधा यह प्रश्न होता है कि साहित्य क्या है? विद्या के वैज्ञानिक विभागों का नाम लेते ही हमें उनके यथार्थ धर्म्म का ज्ञान हो जाता है। हमलोग जानते हैं कि न्याय क्या है, ज्योतिष क्या है, सांख्य क्या है; किन्तु यह हम सुगमता के साथ नहीं कह सकते कि साहित्य से किस वस्तु से अभिप्राय है। हम यहां पर यह दिखलावेंगे कि साहित्य का यथार्थ धर्म्म क्या है और विज्ञान से उसका कहां तक सम्बन्ध है। क्या साहित्य से पुस्तकमात्र का बोध होता है? कभी नहीं। क्योंकि, तब, उसके अन्तर्गत विज्ञान, ज्योतिष, न्याय और विद्या के और भी अन्य विभाग आ जायंगे। कभी हमलोग वेदव्यास की गीता को अध्यात्म के अन्तर्गत और कभी साहित्य के अन्तर्गत मान लेते हैं; किन्तु कोई मनुष्य, यदि वह उन्मत्त न हो, ज्योतिष या यूक्लिड (Euclid) के रेखा-गणित को साहित्य के नाम से नहीं पुकारेगा। क्या वाक्यरचना ही का नाम साहित्य है? अथवा साहित्य सुन्दर गढ़ी हुई स्टाइल में लिखने को कहते हैं? या यह लिखने की एक कृत्रिम और उपार्जित प्रणाली है?

बहुत से विचारवान पुरुष इन्हीं पूर्वोक्त बातों को साहित्य का लक्षण मान उससे घृणा करते हैं। उनके मत में साहित्य और कुछ नहीं; शब्दों की क्रीड़ा मात्र है।

साहित्य केवल लेखन-प्रणाली ही का नाम है; वाचालता का नहीं। भिन्नता उसकी प्रणाली में, उसके सर्वांग-पूर्ण और दिगन्तव्यापी होने में है। जो बात कही जाती है वह बोलनेवाले के पास से बहुत दूर नहीं जा सकती; वायु में उसका नाश हो जाता है। जब शब्दों को, सारगर्भित और उन्नत-भावों को प्रगट करने के लिए, प्रयोग करना होता है; जब उन्हें सृष्टि के अन्त तक स्थायी रखना आवश्यक होता है; और जब उनके द्वारा भावी सन्तति का उपकार वाञ्छित होता है, तब उन्हें लिखना पड़ता है, अर्थात् साहित्य के रूप में ढालना पड़ता है। किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि यह हाथ की किसी प्रकार की कारीगरी है; नहीं—यह गुण वाणी ही का है। यह कानों को सम्बोधन करता है, न कि नेत्रों को। इस को हम वाणी की शक्ति कहते हैं। जब हम लिखने लगते हैं तब ऐसे शब्दों का हम प्रयोग करते हैं जैसे "बोलना", "पुकारना" इत्यादि। हम इसपर अधिक ज़ोर देते हैं, क्योंकि इससे यह देखा जाता है कि वाणी, अर्थात् साहित्य, एक व्यक्ति की निज की क्रिया है। यह कई मनुष्यों के संयोग से अथवा किसी यन्त्र की सहायता से उत्पन्न हुई कोई वस्तु नहीं है। किन्तु सदा इसकी स्फूर्त्ति एक साथ एक ही व्यक्ति में होती है। एक ही ध्वनि के दो पृथक् व्यक्ति कर्त्ता नहीं हो सकते और एक ही कथा को दो मनुष्य एक साथ नहीं कह सकते; अर्थात् वाणी एक समय में एक ही मनुष्य की हो सकती है और वह उसीकी कल्पना और उसीका अनुभव है। किसी एक विशेष प्रकार की कल्पना एक मनुष्य-विशेष की निज की और स्वाभाविक सम्पत्ति है, यद्यपि सम्भव है कि और लोग भी वैसी ही या उससे मिलती जुलती कल्पना रखते हों। यह कल्पना मनुष्य में वैसी ही निराली है जैसे उसकी बोली और क्रियाएं उसमें निराली हैं, और जैसे उसका चेहरा और उसका ढङ्ग उसमें निराला है। सारांश यह कि, साहित्य "विचार" का बोधक है, न कि "पदार्थ" का।

यह बात विद्या के उस विभाग की परीक्षा करने से स्पष्ट हो जायगी जो विज्ञान से सम्बन्ध रखता है, अर्थात् जो ऐसी वस्तुओं का बोध कराता है जो किसी व्यक्ति-विशेष में नहीं, जो किसी व्यक्ति विशेष पर अवलंबित नहीं, वरन जो, यदि इस सम्पूर्ण संसार में कोई मनुष्य उनको जानने वा उनके विषय में चर्चा करने को भी न होता, तो भी वे स्थित रहतीं। और यद्यपि शब्द उनको प्रगट करने के लिए प्रयोग किए जाते हैं, तथापि ऐसे

शब्द केवल एक प्रकार के संकेत या चिन्ह-स्वरूप हैं–भाषा नहीं। चाहे कितना हीं अधिक हम उनका व्यवहार करें और कितने ही प्रकार से उन्हें लिखकर स्थायी बनायें, तिस पर भी उनसे हम किसी प्रकार का साहित्य नहीं निकाल सकते और न उन्हें उस नाम से पुकार ही सकते हैं। रेखा-गणित की शकलें इसी प्रकार की हैं। वे स्वयं-स्थित हैं; उनका होना हमलोगों को उनके समझने पर अवलम्बित नहीं और न हमलोगों की इच्छा पर; वे पदार्थों के स्वभाव से सम्बद्ध हैं और ऐसे नियमों के आधीन हैं जो हमलोगों से अलग हैं। वे शब्द जिनमें वे शकलैं प्रगट की गई हैं, भाषा या साहित्य नहीं, वरन संकेत मात्र हैं। रेखा-गणित की शकलैं बीज-गणित के अङ्कों में दिखलाई जा सकती हैं। यह बात प्रमाणसिद्ध है। जो बात गणित के विषय में घटती है वही और और वैज्ञानिक विषयों में भी पाई जाती है। शब्दों की सहायता वे केवल पहियों की भाँति लेते हैं, जो उन्हें खींचकर साहित्य-प्रदेश से बाहर ले जाते हैं। अध्यात्म, धर्म्म-शास्त्र, अर्थ-विद्या और रसायन इत्यादि साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकते, क्योंकि वे तीक्ष्ण-वैज्ञानिक परीक्षा को सहन करने योग्य हैं।

इसीसे अरस्तू के ग्रन्थ पहले देखने में तो साहित्य-विषयक जान पड़ते हैं; किन्तु उनमें से बहुतेरे लक्षण का विचार करने पर विज्ञान के निकट पहुंच जाते हैं, यद्यपि वे वस्तुएं जिनका वह वर्णन करता है सर्वदा सारवान और प्रत्यक्ष नहीं हैं; परन्तु उन्हें वह इस ढङ्ग से प्रकट करता है, मानों वे उसके हृदय की कल्पना और विचार नहीं हैं, अर्थात् उन्हें वह वैज्ञानिक रीति से प्रगट करता है। बहुत से ऐतिहासिक लेखक भी अपने ग्रन्थों पर अपने मानसिक भाव, चित्त की प्रवृत्ति, और पक्षपात इत्यादि का ऐसा रंग चढ़ा देते हैं कि उनमें साहित्य की सी झलक आ जाती है। सारांश यह कि विज्ञान 'पदार्थ' या 'तत्व' का बोधक है और साहित्य 'कल्पना' और 'विचार' का; विज्ञान ब्रह्माण्ड-व्याप्त है और साहित्य का स्थान किसी एक व्यक्ति में। विज्ञान शब्दों को संकेत की भाँति काम में लाता है; किन्तु साहित्य में भाषा का सबसे प्रशस्त प्रयोग है और अलङ्कार, मुहाविरा, वाक्य-रचना, माधुर्य्य और सरसता तथा अन्यान्य लक्षण उसमें सम्मिलित हैं। साहित्य भिन्न भिन्न लोगों का भिन्न भिन्न प्रकार से भाषा को काम में लाना है। यह बात बहुत से ग्रन्थों को देखने से विदित होती है। भाषा स्वयं अपना मूल किसी जाति-विशेष में रखती है। उसके रहन सहन का बड़ा भारी प्रभाव उसपर पड़ता है; कभी कभी तो यहां तक कि किसी मुहाविरे या वाक्य-विशेष की उत्पत्ति हमलोग किसी व्यक्ति-विशेष से बतलाते हैं; हम उसका इतिहास तक जानते हैं।

किसी भाषा के शब्दों के भाव और रूप, और उसको बोलनेवाली जाति के स्वभाव और आशय, में जो सम्बन्ध है वह प्रत्यक्ष है। बहुतेरे लोग भाषा का उसी प्रकार प्रयोग करते हैं जैसा कि वे होता हुआ देखते हैं। प्रतिभाशाली पुरुष उसका प्रयोग तो करता है, किन्तु उसे अपने आशय के आधीन रखता है और उसे एक निराले ढङ्ग पर ले चलता है। कल्पना-समूह, विचार-माला, अनुभव और उत्साह इत्यादि जो उसके चित्त में उत्पन्न होते हैं, उन्हींको वह अपनी भाषा में व्यक्त करता है। उसकी भाषा वैसीही बहु-रूपिणी है जैसे उसकी आन्तरिक क्रियाएं हैं; क्रियाएं वास्तव में उसकी छाया के सदृश हैं। जैसे उसकी कल्पना निज की है; उसके विचार उसके निज के हैं; वैसे ही उसकी भाषा या स्टाइल भी उसकी निजकी है।

'विचार' और 'वाणी' एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—"गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न"। वे एक ही वस्तु के दो विभाग हैं। 'विचार' और 'कल्पना' भाषा द्वारा प्रगट किये जाते हैं। यही साहित्य है। पदार्थ साहित्य नहीं, पदार्थों का शब्द-रूपी संकेत भी साहित्य नहीं और केवल

शब्द भी साहित्य नहीं—"विचार" का नाम साहित्य है। ये विचार भाषा द्वारा प्रकट किये जाते हैं। मनुष्य की बुद्धि को पशुओं की बुद्धि से जिस अंश में विशेषता है उसको ग्रीक भाषा में Logos कहते हैं। Logos का तात्पर्य्य 'बुद्धि' और 'वाणी' से है। यह नहीं जान पड़ता कि इनमें से कौन अर्थ यथार्थ है; मेरी जान तो उसमें दोनों बातें सम्मिलित हैं; क्योंकि वे एक दूसरे से पृथक् नहीं की जा सकतीं; वे यथार्थ में एक ही हैं। जिस प्रकार अग्नि से प्रकाश का जुदा होना असम्भव है उसी प्रकार 'वाणी' या भाषा के विना 'विचार' का होना असम्भव है। समालोचकों को इस विषय पर बहुत विचार कर सम्मति स्थिर करनी चाहिए। बहुतों का मत है कि सुन्दर रचना अर्थात् साहित्य किसी वस्तु पर ऊपर से कलई कर देना है; अथवा एक प्रकार के आभूषणों से विभूषित करना है, जिसका साधन केवल ऐसे ही मनुष्य करते हैं जिन्हें ऐसी तुच्छ बातों में रुचि होती है और उसके लिए समय मिलता है। वे समझते हैं कि विचारों का कर्त्ता एक पुरुष हो सकता है और वाणी या भाषा का दूसरा। जैसे कोई मनुष्य जो लिखना पढ़ना नहीं जानता है एक पत्र-लेखक के पास जाता है और अपने चित्त का भाव उसपर किसी प्रकार प्रगट करता है। कभी वह किसी धनी आदमी से उपकार चाहता है, कभी किसी पदाधिकारी से किसी त्रुटि का संशोधन चाहता है, कभी किसी रमणी से प्रेम की अभिलाषा रखता है, इत्यादि। और वह पत्र-लेखक उस मनुष्य के भावों को ग्रहण करके उसे ऐसे ऐसे शब्द ढूँढ़ कर देता है जिनकी आवश्यकता होती है। यह बात वह उसी भांति करता है जैसे बिसाती ने उसे काग़ज़, क़लम इत्यादि लिखने की सामग्री दी थी। सो 'विचार' और 'शब्द' किसी किसी की समझ में दो पृथक् वस्तु हैं; इसी से उनकी क्रियाएँ भी विभक्त हैं। (बहुत से देशों में इसीका नाम सुन्दर-रचना है)। वे साहित्य-रचना को एक प्रकार का व्यवसाय और चातुरी मानते हैं। वे उसको ऐसा ही समझते हैं जैसे भोजन के समय सोने के पात्र और गुलदस्ते इत्यादि, जो भोजन को तो अधिक स्वादिष्ट नहीं बना देते, किन्तु आनन्द को बढ़ाते हैं।

परन्तु क्या यह कोई कह सकता है कि वाल्मीकि, वेदव्यास, कालिदास और भवभूति इत्यादि की रचना वाक्य-रचना ही के निमित्त थी; उन विचारों को प्रगट करने के लिए न थी जो उनके चित्त में थे। यह कहना तो प्रचलित पद्धति के कभी अनुकूल न होगा। बल्कि यों कहा जा सकता है कि लेखक के चित्त में कल्पना अथवा विचार एक प्रकार की धारा है जो वाणी के द्वारा वेग के साथ वह निकलती है। 'कल्पना' और 'विचार' उसके अन्तःकरण के निवासी हैं जो शब्दों के रूप में परिवर्त्तित होकर, जैसे भाप जल के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है, उसके मुख से निकल पड़ते हैं और उसके चित्त को एक तरह से हलका कर देते हैं। उसके चित्त की अवस्था और प्रवृत्ति, उसका आन्तरिक स्वभाव-सौन्दर्य्य, तथा उसके विवेचन की सूक्ष्मता और शक्ति इत्यादि उसकी भाषा में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। केवल शब्द ही नहीं बल्कि उसके छन्द, अनुप्रास, समास इत्यादि भी उसके चित्त के उद्वेग से उत्पन्न होते हैं। ये सब बातें जन्म से होती हैं; उनका अस्तित्व और उनकी पूर्णता उसके गुण के उतने स्मारक नहीं हैं जितने उसकी शक्ति के। यह बात गद्य और पद्य दोनों प्रकार की रचना में समान रूप से पाई जाती है। कादम्बरी की शब्द-योजना का अपूर्व्व माधुर्य्य और, साथ ही साथ, उसका उन भावों के अनुकूल होना जिन्हें कवि ने प्रगट किया है, कौन नहीं स्वीकार करेगा?

जब विचार और कल्पना कवि की निज की वस्तु हैं तो कोई आश्चर्य्य नहीं जो उसका स्टाइल अर्थात् लिखने का तर्ज़ और उसकी भाषा भी केवल उसके विषय ही का प्रतिबिम्ब न हो, बल्कि उसके हृदय का भी प्रतिबिम्ब हो। भाषा की प्रगल्भता, रचना की सरसता और शब्दों के चुनाव और प्रयोग में

स्वच्छन्दता, जो प्रायः गद्य के लेखकों में कृत्रिम जान पड़ती हैं, स्वाभाविक उन्नत बुद्धि ग्रैार उन्नत प्रणाली के सिवा ग्रैार कुछ नहीं हैं। विशाल बुद्धि की कार्य-प्रणाली भी विशाल होती है। कवि की भाषा न केवल उसके उन्नत विचार ही प्रगट करती है, वरन स्वयं उसको भी। चाहै कवि बहुत थोड़े शब्द काम में लावे; किन्तु वह ग्रपनी साधारण कल्पनाग्रों के भी उपजाऊ बनाता है। उनमें से नये नये ग्रंकुर निकालता है, ग्रैार ग्रपने पदों को गति के बढ़ाता हुग्रा तथा ग्रपनी वाग्वीणा के प्रत्येक स्वरों के खींचकर एक करता हुग्रा ग्रपनी शक्ति ग्रैार पूर्णता का ग्रनुभव कराता है। एक तीव्र समालोचक शायद इसको शब्दों की भरमार कहे, किन्तु वास्तव में यह हृदय को सम्पन्नता है।

कालिदास ने भी इस प्रकार के ग्रनेक उदाहरण ग्रपने काव्यों में दिये हैं जो सब ऐसे सुन्दर हैं कि उनमें से किसी एक को उद्धृत करने के लिए चुनना कठिन है; यथा—

पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान्
समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः।
दशरथः प्रशशास महारथो
यमवतामवताञ्च धुरि स्थितः॥

इसी लिए संस्कृत कवि "शब्द-शिल्पकार" * कहे जाते हैं। मैं यहां पर यह कहना चाहता हूं कि यह लेखन-प्रणाली पूर्व-कथित नियमों के सर्वथा ग्रनुसार है। उन नियमों के ग्रवलम्बी लेखकों में किसी प्रकार की कृत्रिमता वा भाव-रंकता नहीं पाई जाती। संस्कृत साहित्य की रचना निस्सन्देह बहुत गंभीर ग्रैार विस्तृत है। उस में बहुत सा समय, परिश्रम ग्रैार विचार व्यय हुये हैं। मैं यह मानता हूं कि उसमें कहीं कहीं भद्दापन है। बहुत से प्राचीन ग्रैार नवीन कवि ऐसे हैं जो वास्तव में लम्बे लम्बे सामासिक पदों की रचना ही में ग्रपनी साहित्य-रचना का उद्देश्य ग्रैार ग्रन्त मानने के दोषी हैं; वे विचारों ग्रैार भावों के तिलाञ्जलि देकर शब्दों ही पर टूट पड़े हैं। उनका पक्ष मैं नहीं ले सकता। इस प्रकार के कई कवि हमारे यहां हो गए हैं। दण्डी की गद्य-रचना यद्यपि बहुत ही पाण्डित्य-पूर्ण है, परन्तु किसी किसी स्थान पर उसकी प्रणाली, भाव ग्रैार ग्रवसर से ग्रनावश्यक रूप से ग्रागे बढ़ गई है।

[ग्रसम्पूर्ण]

रामचन्द्र शुक्ल।

पेरू का प्राचीन सूर्य-मन्दिर।

ग्रमेरिका का प्रजातन्त्र राज्य २१ राज्यों में बँटा हुग्रा है। इन २१ में से पेरू भी एक राज्य है। वह दक्षिणी ग्रमेरिका में है। उसका विस्तार ५,०२,७६० वर्ग मील है। उसकी लम्बाई १२४० मील ग्रैार चैाड़ाई ७० से ६०० मील तक है। पेरू में, सैकड़ों कोस तक, वालुकामय उजाड़ मैदान चले गये हैं, जहां न तो कोई पशु पक्षी ग्रादि जीव ही रह सकते हैं, ग्रैार न घास का एक तिनका ही उग सकता है। बड़े बड़े ज्वालामुखी पर्वत भी पेरू में कई एक हैं। यहां प्रायः कभी पानी नहीं बरसता। यदि यहां सोने ग्रैार चाँदी ग्रादि बहुमूल्य धातुग्रों की खानैं न होतीं तो कदाचित् ही कोई सभ्य देशों

* संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् सर मोनियर विलियम्स ने निज सम्पादित 'नलोपाख्यान' की भूमिका में संस्कृत-साहित्य की ग्रालोचना करते हुए कहा है "Here the words are not used as vehicle of ideas but ideas are made subservient to them."

के वासी यहां रहते। पेरू का प्रजा-सत्तात्मक स्वतन्त्र राज्य प्रशान्त महासागर से लगा हुआ है। इसकी राज्यधानी लीमा नगर है।

अमेरिका को ढूंढ़ निकालने का सारा यश कोलम्बस ही को दिया जाता है। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया। परन्तु इसके पाँच छ सौ वर्ष पहले ही नारवे के रहनेवाले नारवेजियन लोग अमेरिका गये थे और कई जगह बसे थे। बहुत वर्षों तक उन्होंने अमेरिका के प्राचीन निवासियों के साथ व्यापार किया; परन्तु किसी कारण से, वे वहां से अपने देश को लौट गये और फिर वहां नहीं जा सके। इस विषय के अनेक प्रमाण मिले हैं; एक आध लेख भी पाये गये हैं। इस लिए कोलम्बस के पहले नारवेजियन लोगों का अमेरिका जाना निर्विवाद है।

अमेरिका के प्राचीन निवासी प्रायः असभ्य और जङ्गली हैं। परन्तु पेरू के आदिम निवासी वैसे नहीं हैं। वहां सभ्यता का प्रचार बहुत पुराने समय से है। १५८७ ईसवी में, जब, पहले पहल, स्पेनवाले पेरू में पहुँचे, तब उन्होंने वहां ह्वेना कपक नामक राजा को राज्य करते पाया। यह अपने वंश का बारहवां राजा था। उसकी राजधानी कज़्को नगर में थी। उस समय पेरू में सभ्यता का बहुत कुछ प्रचार था। प्रजा से कर लिया जाता था; न्यायाधीश नियत थे; प्रजा की रक्षा के लिए सेना रक्खी गई थी; खेती खूब होती थी; मकान अच्छे अच्छे थे; अस्त्र शस्त्र और वस्त्र आभूषण आदि भी काम में आते थे; पुस्तकें थीं; काव्य था; धर्म्म-शास्त्र था। सभ्यता के प्रायः सभी चिन्ह थे। १५३१ ईसवी में, स्पेन के पिज़ारो नामक सेनापति ने, ह्वेना कपक राजा पर विजय प्राप्त करके, उसकी राजधानी कज़्को अपने अधिकार में करली। तब से पेरू का प्राचीन राज्य नष्ट हो गया। पिज़ारो ने पेरू वालों को विद्या, बुद्धि, सभ्यता और कला कौशल में अपने से बहुत बढ़कर पाया। उन लोगों ने पिज़ारो को सोने चाँदी के बहुमूल्य आभूषण और रेशम और ऊन के बहुमूल्य वस्त्र नज़र किये।

पेरू की सरहद में टीटीकाका नामक एक बड़ी झील है। कहते हैं, कोई १००० वर्ष हुए, उसके किनारे मानको कपक नामक एक मनुष्य अपनी स्त्री और बहन के साथ आया। देखने में उसका डील डौल बहुत भव्य था। वह अपने को "सूर्य का पुत्र" कहता था। उसने दूर दूर जाकर व्याख्यान द्वारा वहां के प्राचीन निवासियों को अपने आधीन कर लिया। कुछ दिनों में उसने कज़्को नामक नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। मानको कपक ने क्रम क्रम से सारा पेरू अपने अधिकार में कर लिया और आप वहां का राजा हो गया। वह धार्म्मिक, न्यायी और बुद्धिमान था। उसने लोगों के बीच धार्म्मिक और नैतिक शिक्षा का प्रचार किया; सब को खेती करना, कपड़ा बुनना और उत्तमोत्तम घर तथा मन्दिर बनाना सिखलाया। उसके अनन्तर उसी वंश के ११ राजा और हुए। इन राजाओं ने कला कौशल की बड़ी उन्नति की। जहां जहां उन्होंने अपना राज्य फैलाया, वहां वहां अनेक मन्दिर बनवाये; अनेक सड़कें बनवाईं; अनेक धर्म्मशालायें बनवाईं। ये राजा सूर्य के उपासक थे। इस उपासनावालों की 'इन्का' संज्ञा थी। इन्का लोगों के पहले भी जो लोग पेरू में थे वे वहां के जङ्गली मनुष्यों की अपेक्षा बहुत सभ्य थे; परन्तु सभ्यता का विशेष प्रचार इन्का राजाओं ही के समय में हुआ। इन्का लोगों के आचार विचार और रीति भाँति चीन के निवासियों से कुछ कुछ मिलती हैं। इसलिये विद्वानों का तर्क है कि वे चीनवालों ही के सन्तान हैं। परन्तु कई बातें इनमें ऐसी हैं जो हिन्दुओं से भी साम्यता रखती हैं। क्या आश्चर्य्य है जो शङ्कराचार्य्य से परास्त किये जाने पर सौर, गाणपत्य और कापालिक आदि मतों के अनुयायी देश त्याग करके अमेरिका चले गये हों और वहां अपनी विद्या और सभ्यता से पेरू के प्राचीन निवासियों को अपने धर्म्म की

दीक्षा देकर राजा हो गये हों? बौद्ध लोगों का चीन, जापान, तिब्बत, लङ्का, कोरिया, सुमात्रा, जावा और बोर्नियो आदि देशों और द्वीपों को जाना तो सिद्ध ही है। इसलिए सूर्य और गणपति आदि के उपासकों का अमेरिका जाना असम्भव नहीं। कपक और मानको आदि शब्द संस्कृत के अपभ्रंश जान पड़ते हैं।

पेरू में, जहां प्राचीन नगर और इमारतें थीं, वहां खोदने पर हज़ारों वर्ष के पुराने बर्तन, कारागार, मन्दिर, मकान, और मूर्तें निकली हैं। कोई कोई मूर्तें बहुत ही सुन्दर और बहुत ही बड़ी हैं। इस देश की मूर्तियों से वे बहुत कुछ मिलती हैं। इससे जान पड़ता है कि पेरू के प्राचीन निवासी मूर्तिपूजक थे। जहां तक पता लगा है, जान पड़ता है, उनकी सम्पत्ति की सीमा न थी। सोना और चाँदी मिट्टी मोल था। प्राचीन इन्का लोगों ने अपने मन्दिरों के बनाने में अपरिमित धन व्यय किया था। इन्का लोगों के मन्दिरों में से सूर्य का एक मन्दिर बहुत ही विशाल और बहुत ही आश्चर्य्यमय था। वह इन्काओं की राजधानी कज़्को नगर में था। इस मन्दिर का स्पेनवालों ने विध्वंस कर डाला। जहां पर यह था वहां, इस समय, एक गिर्जाघर विद्यमान है। इस मन्दिर का नाम कोरीकञ्चा था। कोरीकञ्चा का अर्थ "सुवर्ण-स्थान" है। इस नाम में कञ्चा शब्द संस्कृत काञ्चन (सोना) का अपभ्रंश जान पड़ता है। इससे भी अनुमान होता है कि संस्कृत जाननेवाले लोगों ही ने इस मन्दिर को निर्म्माण कराया था। इस सूर्य्य-मन्दिर के जो वर्णन आज तक मिले हैं उस से जान पड़ता है कि ऐसा भव्य मन्दिर शायद पृथ्वी की पीठ पर और दूसरा न रहा होगा। उसमें सूर्य की एक प्रतिमा थी और वह सूर्य्य ही के समान देदीप्यमान थी। सूर्य की यह प्रकाण्ड मूर्ति (मुख की आकृति) मन्दिर की पश्चिमी दीवार पर थी। मूर्ति बिलकुल सोने की थी। इस मूर्ति से सुवर्ण की छटारूपी महा-प्रकाशमान किरणें चारों ओर फैली रहती थीं। मन्दिर में, इसके सिवा और अनेक देवताओं की सैकड़ों सुवर्ण मूर्तियां थीं। आभूषणों की तो बात ही नहीं; पूजा और प्रसाद आदि के बड़े बड़े बरतन भी सब सोने ही के थे। जिस समय असल सूर्य की दीप्तिमान किरणें सब ओर इस मन्दिर पर पड़ती थीं, उस समय वह सारा भवन दिव्य प्रकाश और दिव्य प्रभा का पुञ्ज हो जाता था। सूर्य की मनोमोहिनो मूर्ति के नीचे सोने की बहुमूल्य कुरसियों पर पुराने इन्का राजाओं की प्रतिमायें रक्खी थीं। मन्दिर के आँगन में छोटे छोटे और कई एक मन्दिर थे। इन छोटे मन्दिरों में से चन्द्रमा और शुक्र का मन्दिर औरों की अपेक्षा अधिक शोभाशाली था। इन सब मन्दिरों में भी सोने और चाँदी का काम था। बेल, बूटे और चित्रों से कोई स्थान ख़ाली न था। विदेशी लोग इस महा अलौकिक मन्दिर को देखकर चकित होते थे और घण्टों तक एक ही जगह पर स्तब्ध खड़े रह कर, उसकी शोभा और कारीगरी को इकटक देखा करते थे।

इस मन्दिर के बनाने में अपरिमित धन लगा था। जब पिज़ारो ने कज़्को को अपने आधीन करके उसे लूट लिया, तब उसके एक अधिकारी ने लूट के माल में से और कुछ न माँग कर केवल वे छोटी छोटी कीलें माँगीं जिन को जोड़ कर इस मन्दिर का नाम दीवारों पर उठाया गया था। उसकी यह प्रार्थना स्वीकार हुई। जब ये सोने की कीलें तौली गईं तो २५ मन निकलीं! इसीसे इस मन्दिर की बहुमूल्यता का अनुमान करना चाहिए।

हमारे देश में सूर्य के बहुत कम मन्दिर हैं। एक मन्दिर झाँसी के पास, दतिया-राज्य के अन्तर्गत, उनाव नामक गाँव में है। इसमें सूर्य्य की जो मूर्ति है उसका आकार कज़्को की मूर्ति से मिलता है। कज़्को के इस प्राचीन मन्दिर का चित्र हम सरस्वती की इस संख्या में प्रकाशित करते हैं। जान पड़ता है, मन्दिर को आँखों से देख कर यह चित्र नहीं उतारा गया। ध्वंस किये जाने पर उसके

बर्णनों को पढ़कर, अटकल से, शायद किसी चित्रकार ने उसे बनाया है।

तिब्बत में एक जापानी।

आज तक तिब्बत के सम्बन्ध में हमलोग सिर्फ़ इतना ही जानते थे कि वह नैपाल के उत्तर की ओर, बड़े बड़े पर्वतों से घिरा हुआ, एक छोटा सा स्वतन्त्र देश है। वह चीन-सम्राट के आधीन है। लासा शहर में उसकी राजधानी है। वहां के लोग बौद्धधर्म के अनुयायी हैं। उनके मुख्य अधिकारी को लामा कहते हैं। वहां ऊन और कस्तूरी बहुत होती है। सोना और चाँदी की खानें भी बहुत हैं। अंग्रेज़ों ने सन् १८९० ई० में सन्धि करके अपने व्यापारियों के लिये तिब्बत में व्यापार करने का स्वत्व प्राप्त कर लिया है। कहते हैं कि तिब्बती सरकार ने अंग्रेज़ी व्यापारियों की कुछ सहायता नहीं की। बस, इसी लिए कुछ दिन हुए वहां एक मिशन भेजा गया है; और यंग-हस्बैण्ड साहिब अपने दलबल सहित चंबी, फारी आदि दुर्गम दरियों को पार कर लासा की ओर बढ़ रहे हैं। इस समय वे ग्यानसी नामक स्थान में ठहरे हैं। वहां पहुँचने के पहले एक बार उनको युद्ध भी करना पड़ा है। इस युद्ध में तिब्बतवालों के पांच छ सौ आदमी काम आये हैं।

इस समय तिब्बत का नाम हिन्दुस्तान के सब पढ़े लिखे लोगों को मालूम हो गया है। नित्य समाचार-पत्रों में तिब्बत-मिशन के बारे में कुछ न कुछ बातें प्रकाशित होती ही हैं। पाठक भी उन ख़बरों को पढ़ने के लिए बड़े उत्सुक देख पड़ते हैं। यथार्थ में जब से हमारे लोकप्रिय गवर्नर जनरल श्रीमान् लार्ड कर्ज़न महोदय की कृपादृष्टि इस छोटे से, किन्तु हज़ारों वर्ष से स्वातंत्र्य-सुख का अनुभव लेनेवाले, देश की ओर गई है, तब से तो उसको और भी महत्व प्राप्त हो गया है। प्रत्येक मनुष्य उसके सम्बन्ध में कुछ न कुछ जानने की इच्छा करता है। योरप के ढाढ़सी और साहस-प्रिय लोग तो बहुत दिनों से तिब्बत के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के हेतु भांति भांति के उद्योग कर रहे हैं। वे लोग उस देश में प्रवासी वा याचक बनकर प्रवेश करते हैं। इन प्रवासियों को अनेक सङ्कट और कठिनाइयां सहनी पड़ती हैं। कभी कभी तो उन्हें तिब्बती सरकार से दण्ड भी भुगतना पड़ता है। तथापि वे लोग अपने उद्दिष्ट कार्य से विमुख नहीं होते। अभी थोड़े दिन हुए कि कवागुची नाम के एक जापानी धर्मोपदेशक ने भेष बदलकर कई महीनों तक तिब्बत में प्रवास किया था। वह तिब्बत में कुछ राजकीय कामों के लिए नहीं गया था। उसने सुना था कि वहां बौद्धधर्म के उत्तमोत्तम ग्रन्थ हैं। उन्हींको देखने के लिए वह वहां गया था।

लासा से पांच मील की दूरी पर सेरा नाम के एक गांव में बहुत बड़ा विद्यालय है। कवागुची ने वहां जाकर डेढ़ बरस तक धर्मशास्त्र का अध्ययन किया। जब विद्यालय के अधिकारियों पर यह बात प्रगट हो गई कि कवागुची यथार्थ में कहां का रहनेवाला और कौन है, तब उसको वहां से अपनी जान बचाने के लिए भागना पड़ा। तिब्बत में प्रवेश करने के पहले उसने, सरहद के लोह नामके एक गांव में सोलह महीने रहकर, तिब्बती भाषा अच्छी तरह सीख ली थी। वहां से भाग आने पर उसने अपने प्रवास का वर्णन प्रकाशित किया है। वह अत्यन्त मनोवेधक है। उसीके आधार पर हम भी संक्षेप में सरस्वती के पाठकों के मनोरञ्जनार्थ कुछ बातें लिखते हैं।

मार्ग।

कवागुची नैपाल में होता हुआ, खाटमांडू के रास्ते, तिब्बत को गया था। दार्जिलिंग से ३०० मील पर दिवालगिरी नाम की एक दरी है। वहां से पश्चिम की ओर दो तीन सौ मील के अन्तर पर मानससरोवर है। वहां से पूर्व की ओर झुककर, ६०० मील का रास्ता तय करने पर, वह लासा शहर में पहुँचा। जब उसको सेरा के विद्यालय

से भागना पड़ा था तब वह २०० मील से अधिक घुमाव के रास्ते से दार्जिलिंग पहुँचा था। इस से यह विदित होता है कि उसको लगभग १४०० मील का प्रवास पैदल करना पड़ा !

मानससरोवर।

भारतवर्ष के अनेक लोगों ने अपने प्राचीन ग्रन्थों में इस अनुपम सरोवर का वर्णन अवश्य पढ़ा होगा। यह पवित्र सरोवर जिस प्रकार भारतवासियों को वन्दनीय है, उसी प्रकार तिब्बती लोगों को भी है। उस प्रदेश की शोभा अवर्णनीय है। केवल वनश्री को देखते ही मनुष्य की चित्त-वृत्ति मोहित हो जाती है। इस सरोवर के पास ही ब्रह्मपुत्र नद का उद्गमस्थान है। समीप ही रावणह्रद नाम का एक और सरोवर है। वहां से सतलज नदी निकलती है। उस पार कैलाश पर्वत है। उसकी ऊंची ऊंची चोटियां सदा हिम से आच्छादित रहने के कारण उज्वल और मनोहर देख पड़ती हैं। इस प्रदेश में जो बड़ी बड़ी नदियां हैं उनमें से लाल, नीले, पीले, हरे, बैंजनी आदि भिन्न भिन्न रङ्ग की मिट्टी बहकर आती है। किनारों पर उसकी एक पतली रङ्ग बिरङ्गी चादर बिछ जाती है। जब उसपर सूर्य के किरण गिरते हैं तब वहां इन्द्रधनुष की अपूर्व शोभा दिखाई देती है। सतलज नदी के किनारे एक बैाद्ध मन्दिर है। वहां प्रकृति की शोभा ऐसी सुन्दर और मोहक है कि उस स्थान को छोड़ कर दूसरी जगह जाने को जी नहीं चाहता। वहां शीत की तो सीमा ही नहीं है। इतनी ठण्ढ है कि यदि पानी में उँगली डालें तो अकथनीय पीड़ा होती है। उष्णतामापक यन्त्र (फैरानाइट) का पारा १०० डिग्री पर रहता है। इस निर्जन प्रदेश में भी बहुत से याचक (भिक्षु) दिखाई देते हैं। यथार्थ में वे सभी याचक नहीं हैं। कोई कोई तो वस्तुतः योग साधन के लिए वहां जाते हैं; और कोई कोई याचक के वेष में वहां का हाल जानने के लिए जाते हैं। हिमालय के अत्युच्च स्थान पर समुद्र के समान विस्तृत तथा गम्भीर मानससरोवर को, और चारों ओर बड़े बड़े पर्वतों की गगनभेदी चोटियों को देखकर प्रवासियों को विस्मयानन्द हुए बिना कभी नहीं रहता !

राक्षसपुरी।

कवागुची ने अपने मार्ग में एक बस्ती देखी। उसको पन्तापुरी–राक्षसों की बस्ती–कहते हैं। यह नाम किसी भारतवासी ने, जो बहुत दिन हुए उधर गया था, रक्खा है। आश्चर्य की बात यह है कि तिब्बती लोग, अपने गांव को पन्तापुरी के नाम से पुकारे जाने में, कुछ भी हीनता नहीं मानते ! इसमें सन्देह नहीं कि वहां के लोग बड़े बलवान और साहसी हैं। पहाड़ों पर चढ़ना तो मानों उनके लिए लड़कों का खेल है ! कवागुची के साथ जो एक तिब्बती मनुष्य प्रवास कर रहा था, वह पहाड़ियों और घाटियों पर इतनी जल्दी चलता था कि कवागुची शीघ्र ही थक गया। तब उसके साथी ने मोक्सा नामकी एक जड़ी उसके पैरों पर घिसकर लगा दी। एक क्षण में उसकी सब थकावट निकल गई। वह फिर अपने साथी के सङ्ग चलने लगा।

रीति रिवाज।

कवागुची ने यह सुना था कि तिब्बत में एक स्त्री के, एक ही समय, अनेक पति होते हैं। परन्तु जब वह वहां गया तब उसने और ही कुछ देखा। जिस मनुष्य के घर पर वह पहले पहल ठहरा था उसके तीन औरतें थीं ! कुछ दिनों के बाद उसको मालूम हुआ कि दो दो तीन तीन औरतों के पालन पोषण का बोझ सभी लोग नहीं उठा सकते। इसलिए जब दो चार भाई एक घर में मिलकर रहते हैं तब उन सभों की एक ही स्त्री होती है। तिब्बत में ऐसे उदाहरण साधारण लोगों में बहुत पाये जाते हैं।

गियानिमा नाम के गांव में गरमी सिर्फ़ दो महीने—१५ जुलाई से १५ सितम्बर तक—रहती है। वहां अठवाड़े में एक दफ़ा बाज़ार लगता है। यह गांव हिन्दुस्थान के निकट है। वहां बाज़ार के दिन हिन्दुस्थानियों को जाने की मनाई

नहीं है। सैकड़ों रोज़गारी अपने अपने ख़ेमों में दूकान लगाते हैं। उस दिन वहां बहुत भीड़ होती है। इस स्थान में एक यह चमत्कार देखने में आया कि सबेरे ११ बजे से रात के ११ बजे तक दक्षिण को ठंढी हवा ऐसे ज़ोर से चलती है कि जाड़े से सब लोगों को सख्त तकलीफ़ होती है। उस समय स्नान करने की इच्छा नहीं होती। यहां के रहनेवाले भी हर रोज़ स्नान नहीं करते। वे लोग अपने मुँह पर मक्खन लगाते हैं। स्त्रियां मक्खन में टोचा नाम की एक जड़ी को पकाती हैं और फिर उस रसको अपने मुँह पर लगाती हैं। इससे उनके मुँह का चमड़ा चिकना बना रहता है। वे अपने पैरों की उँगलियों को, और नाक को भी, लाख केजै से एक तरह के लाल रङ्गवाले पदार्थ से रँगती हैं। तिब्बती लोग बड़े मैले रहते हैं। तथापि वे अपने पाहुनों का आगत स्वागत मनःपूर्वक और प्रेम से करते हैं। भात, भोजन का मुख्य पदार्थ है। कांजी, चाय आदि पेय-पदार्थों पर भी उनकी बहुत रुचि है।

तिब्बती प्रजा और सरकार का मन सदा सन्देह में डूबा रहता है। जबसे योरप के सभ्य देशों ने अपनी कृपादृष्टि इस पहाड़ी प्रदेश की ओर की है तबसे तिब्बती लोग और भी अधिक सन्देहशील हो गये हैं। कवागुची लिखता है कि तिब्बती लोग अंगरेज़ों के नाम से बड़ी घृणा करते हैं। जब कभी कोई मनुष्य उस प्रदेश में घूमता हुआ पकड़ा जाता है तब लोगों को प्रथम यही सन्देह होता है कि वह अंगरेज़ों का गुप्त जासूस होगा। इन्हीं सब कारणों से तिब्बत में प्रवास करना बहुत कठिन है।

शिकाचे का लामा।

शिकाचे एक बड़ा शहर है। वहां टेशुलामा (दूसरे दर्जे का लामा–धर्मगुरु) रहता है। मुख्य धर्मगुरु–दलाई लामा–लासा में रहता है। यद्यपि लामा के हाथ में कुछ राज-सत्ता नहीं है तथापि सब लोग उसको बहुत पूज्य मानते हैं। सच पूछो तो लोगों पर यथार्थ अधिकार उसीका है। शिकाचे में एक बहुत बड़ा मठ है। उसमें ३५०० धर्मोपदेशक और धर्मोपाध्याय रहते हैं। वे नित्य बौद्धधर्म के अध्ययन अध्यापन में लगे रहते हैं। कवागुची, विद्यार्थी बनकर, इसी मठ में तिब्बती लोगों के धर्म का रहस्य जानने के लिए कई महीनों तक शास्त्राभ्यास करता था।

सेरा का महाविद्यालय।

यह महाविद्यालय लासा के समीप है। इसके तीन मुख्य विभाग हैं। पहले भाग में १८ कालेज हैं जिनमें पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या ३,८०० है। दूसरे भाग में भी १८ कालेज हैं। उनमें २५०० विद्यार्थी हैं। तीसरे भाग में सिर्फ़ ५०० विद्यार्थी हैं। यहां पढ़नेवालों को बहुत कड़ी फ़ीस देनी नहीं पड़ती। लगभग १२ रुपए देने पड़ते हैं। इस विद्यालय की अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए २० बरस तक अध्ययन करना पड़ता है। यहां तिब्बतीलोगों के अतिरिक्त और कोई नहीं भरती किया जाता। कवागुची ने अपने को चीनी बतला कर उस विद्यालय में प्रवेश किया था। वह बौद्ध-धर्मी तो था ही; इसके सिवा उसको तिब्बती भाषा भी बहुत अच्छी आती थी। इसीसे उसके सम्बन्ध में किसीको कुछ संशय नहीं आया और वह निडर होकर वहाँ रह सका। वह उन लोगों के सब सामाजिक उत्सवों में स्वतन्त्रता से सम्मिलित होता था। परन्तु दुर्भाग्यवश जब विद्यालय के अधिकारियों को मालूम हुआ कि वह चीनी नहीं, जापानी है, तब उसको अपनी जान लेकर वहां से भागना पड़ा।

उत्सव।

इन लोगों में बहुत से उत्सव नहीं होते। जब कवागुची विद्यालय में अभ्यास कर रहा था तब एक उत्सव पड़ा। उस दिन बुद्धदेव के स्मरणार्थ बनाये हुए एक बड़े दीवानख़ाने में सब धर्मोपदेशक और धर्मोपाध्याय एकत्रित हुए थे। उस दीवानख़ाने की लम्बाई चौड़ाई ३६०×३६० फुट थी। धर्मोपदेशकों की संख्या ३००० से कम न होगी। कवागुची लिखता है कि, उस बृहत् समाज में सच्चे धार्मिक

लोग बहुतही कम थे! प्रायः सब ढोंगी और दुर्व्यसनी लोग थे !! सवेरे जब प्रार्थना और स्तोत्रपाठ हुआ तब बहुतही कम लोगों ने उधर ध्यान दिया; परन्तु जब भोजन का समय आया तब उनलोगों ने भात, चाय और कांजी पर ऐसा हाथ मारा मानों वे बरसों से भूखे थे !!!

राज्यप्रबन्ध।

हमारे प्रवासी ने तिब्बत के राज्यप्रबन्ध के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। परन्तु वह कहता है कि तिब्बत में चोर बहुत हैं; और इसीसे वहां के राज्य प्रबन्ध की कुछ कल्पना की जा सकती है। एक दिन कवागुची कुछ बनियों के सङ्ग प्रवास कर रहा था। बनिये आगे बढ़ गये और कवागुची पीछे रह गया। राह में उसको तीन हथियारबन्द चोर मिले। जब चोरों के नायक ने पूछा कि "तू कौन है? कहां से आ रहा है? क्या तुझे राह में कोई बनिये मिले थे?" तब कवागुची जान गया कि इन लोगों का इरादा क्या है। उसने कहा "नहीं; मुझे कोई बनियां नहीं मिला।" तब नायक ने कहा "तू तो हमारे लामा के समान दिखाई देता है। क्या तू अपने अन्तर्ज्ञान से यह नहीं बतला सकता कि बनिये किधर गये हैं?" प्रवासी ने उत्तर दिया "हां; बतला सकूंगा। परन्तु उसके बदले तुमको पैसे खर्च करने पड़ेंगे"। चोरों का नायक खिलखिलाकर हँस पड़ा और कहने लगा, कि देखो यह कैसा पागल मनुष्य है जो चोरों से पैसा मांगता है! चोरों ने उसको पागल जानकर छोड़ दिया।

एक दफा कवागुची को रास्ते में दुबारा चोर मिले। उन्होंने उसका सब माल लूट लिया। सिर्फ़ पुस्तकें उसको दे दीं। बेचारा कवागुची तीन चार दिन तक जङ्गल में भूखा भटकता रहा। जब वह एक गांव में पहुंचा तब एक परोपकारी गृहस्थ ने उसको कुछ दिन तक अपने घर में रख लिया। वहां उसे पेट भर अन्न खाने को मिला।

तिब्बती सरकार की ओर से इन डाकुओं का उचित प्रबन्ध नहीं किया गया। इसलिए वहां प्रवासी बहुधा लुट जाते हैं।

माधवराव सप्रे।

औरङ्गाबाद, दौलताबाद और रौज़ा।



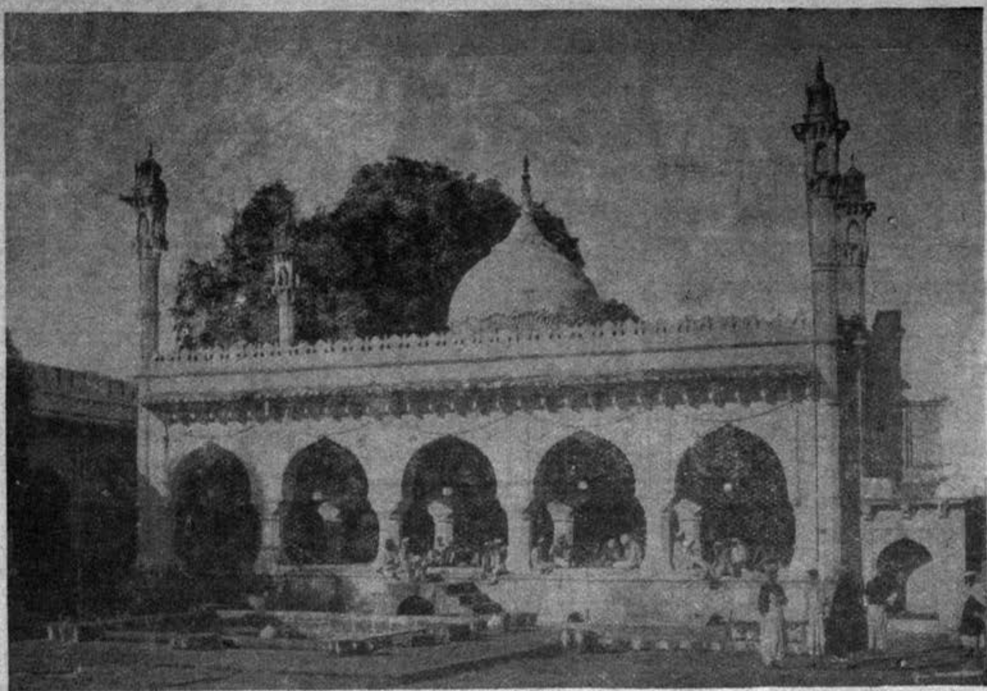
क़िला एराक में आलमगीरी मसजिद।

ग्रेट इण्डियन प्यनिन्शुला रेलवे के मन्मार स्टेशन से जो रेलवे लाइन हैदराबाद को गई है, उसी पर औरङ्गाबाद है। मन्मार से वह कोई ७० मील है। किसी समय, दक्षिण में औरङ्गाबाद की वैसी ही प्रसिद्धि थी जैसी इस तरफ़ देहली की थी। वह देहली का स्थानवर्त्ती था।

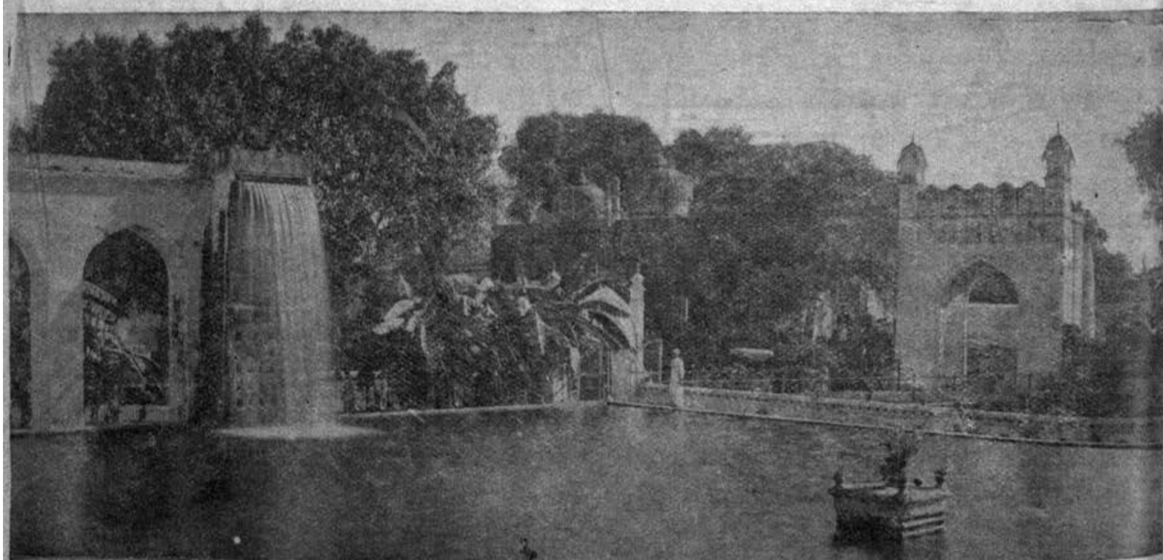
औरङ्गज़ेब ने अपने शासन का पिछला भाग दक्षिण ही में व्यतीत किया। उस समय औरङ्गाबाद उसका राजधानी था। निज़ामशाही बादशाहों के आख़िरी बादशाह के परम प्रतापशाली सचिव-सेनापति मलिक अम्बर ने १६१० ईसवी में इन नगर की नीव डाली। इसका पहला नाम खिरकी था, परन्तु जब से औरङ्गज़ेब वहां पधारे तब से वह औरङ्गाबाद हुआ। यह इस समय निज़ाम के राज्य में है। इसकी आबादी १०,००० के लगभग है।

औरङ्गज़ेब के समय के बने हुए शाही महल, मसजिद और मकानात, इस नगर में सैकड़ों वर्ष बेमरम्मत पड़े रहने के कारण बहुत कुछ उजाड़ हो गये थे, यहां तक कि उनके आसपास प्रचण्ड जङ्गल हो गया था और भालू, भेड़िये और गीदड़ों ने उनको अपना घर बना लिया था। कुछ समय हुआ, सर सालारजङ्ग ने इस जङ्गल को कटाकर शाही इमारतों को साफ़ करा दिया। साफ़ कराने पर इसमें अनेक जलाशय, फ़ौवारे और महल निकले। उनमें से प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थानों की मरम्मत भी करा दी गई। तब से जो लोग यलोरा की गुफायें देखने जाते हैं, वे इसे भी अवश्यही देखते हैं; क्योंकि वहां से यह सिर्फ ८ मील है। इस समय, इस नगर में, औरङ्गज़ेब के क़िले का केवल एकही फाटक शेष रह गया है; परन्तु यह उस क़िले का द्वार है जिसके भीतर बादशाही दरबार में हिन्दुस्तान के ५० से भी अधिक राजे महाराजे हाज़िर रहते थे। औरङ्गज़ेब के जीवन-काल में औरङ्गाबाद ने अपूर्व वैभव का उपभोग किया; परन्तु उसके मरते ही उसके उत्तराधिकारियों ने उसको एकबारगी ही परित्याग कर दिया। अतएव उस का अल्पकालिक वैभव सहसा नष्टप्राय हो गया। औरङ्गाबाद में जो क़िला था उसका नाम "क़िला एराक" था। इसके भीतर औरङ्गज़ेब की जामै मसज़िद अभी तक विद्यमान है। इसको लोग आलमगीरी मसजिद भी कहते हैं। इसको मलिक अम्बर ने आरम्भ किया; परन्तु वह इसे पूरा नहीं कर सका।





सैयद जैनुद्दीन की मसज़िद—रौज़ा ।



पनचक्की ताल—औरङ्गाबाद ।

इसकी औरङ्गज़ेब ने समाप्ति की। यह मसजिद यद्यपि छोटी है तथापि बहुत ही सुन्दर बनी हुई है; और अब तक अच्छी दशा में है। इसके दरवाज़े पर जो काम है वह बड़ाही मनोमोहक है। इस पर तार की पतली जाली लगी हुई है। इस लिए पक्षियां अथवा और कोई जीव इसके भीतर नहीं जा सकते। इस कारण यह बहुत साफ़ रहती है।

इस नगर में औरङ्गज़ेब की लड़की ज़ेबुन्निसा का महल भी देखने लायक़ है। यह उन्हीं इमारतों में से है जिनके चारों ओर घोर जङ्गल उग आया था। इसके सिवा कई पुरानी बारादरियां, दीवानख़ाने और शाही मकान वहां पर अपने पूर्व वैभव का कुछ कुछ अनुमान देखनेवाले के मन में उत्पन्न करते हैं।

औरङ्गज़ेब की बेगम रबिअ दुर्रानी का यहां बहुत ही अच्छा मक़बरा है। इसकी उपमा आगरे के ताज महल से की जाती है। इसके फाटक के किवाड़ों पर पीतल का पत्र जड़ा हुआ है और उस पर नकाशी का काम है। यहां पर एक यह लेख है,—"इस दरवाज़े को १०८९ हिजरी में, हैबतराय ने प्रधान कारीगर अताउल्ला से बनवाया"। समाधि-स्थान सङ्गमरमर के एक ऊंचे चबूतरे पर है। उसके चारों ओर संगमरमर की जाली है। उसका काम बहुत ही मनोहर है। यह जाली समाधि को चारों ओर से घेरे हुए है। निज़ाम की गवर्नमेण्ट ने अनन्त धन ख़र्च करके इस रौज़े की मरम्मत कराई है। मरम्मत क्या उसे बिलकुल नया कर दिया है। इसके फाटक की छत पर जो काम है उसे देख कर बुद्धि नहीं काम करती; वह अपूर्व है।

औरङ्गाबाद में वहां की पनचक्की भी दर्शनीय है। एक सुन्दर बाग़ में विमल जल से भरा हुआ एक तालाब है। इस तालाब में मछलियों की अतिशय अधिकता है। एक फुट से लेकर तीन फुट तक की मछलियां उसमें खेला करती हैं। इस तलाब का पानी एक दूसरे तालाब में गिरता है। यह तालाब पहले की अपेक्षा छोटा है। इसका भी पानी एक छोटे से नहर में गिरता है। यद्यपि इस का नाम पनचक्की है और यह एक प्रपात है, तथापि इसमें भी बाबा शाह मुसाफ़िर चिश्ती की क़बर है। ये औरङ्गज़ेब के धर्म्मोपदेशक थे। पहले तालाब और बाग़ के आगे एक और तालाब है। यह पहले से भी बड़ा है। इसमें यह विलक्षणता है कि यह धरातल पर नहीं किन्तु आकाश में लटका हुआ है। अत्यन्त दृढ़ और प्रकाण्ड खम्भों के ऊपर धन्वाकार मेहरावों पर पक्का जलगृह बना हुआ है; उसीमें अनन्त सलिल-समूह भरा है!

औरङ्गाबाद के पास एक पहाड़ी है; वह कोई ५०० फुट ऊंची है। २५० फुट की उँचाई पर उसमें यलोरा की जैसी ५ गुफायें हैं। परन्तु ये वैसी अच्छी और वैसी प्रसिद्ध नहीं हैं जैसी यलोरा की गुफायें हैं। इनमें से दूसरे नम्बर की गुफा बौद्धों का चैत्य है; और तीसरे तथा चौथे नम्बर की गुफायें विहार हैं। इनमें बुध, पद्मपाणि और वज्रपाणि आदि बोधिसत्वों की अनेक मूर्तियां हैं। बुध की एक प्रतिमा ९½ फुट ऊंची है!

औरङ्गाबाद से दौलताबाद ८ मील है। यहां पर भी रेलवे स्टेशन है। इसका प्राचीन नाम देवगिरि है। यहां का क़िला समुद्र के धरातल से ५०० फुट ऊंची चट्टान पर बना हुआ है। यह तेरहवें शतक में बना था। क़िले के चारों ओर ऊंची दीवार है; उसमें निशाना लगाने के लिए छेद हैं; और तोपें रखने के लिए यथा-स्थान बुर्ज बने हुए हैं। नीचे खाई है। खाई के आगे, और चार दीवारें बहुत दृढ़ बनी हुई हैं। इनको पार करने पर खाई तक पहुंचने की नौबत आती है। इसके फाटकों पर भाले के समान लोहे की नोकदार कीलें गड़ी हुई हैं। इनके कारण बड़े से बड़े मत्त गजेन्द्र उनपर आघात करके उन्हें तोड़ नहीं सकते। इसके भीतर एक मीनार है। यह मीनार मुसल्मानों का विजय-स्तम्भ समझना चाहिए। १४३५ ईसवी में पहले पहल जब उन्होंने देवगिरि को हिन्दुओं से जीता, तब यह मीनार बनाया। वह बात वहां पर

एक फ़ारसी शिलालेख से सूचित है। यहां पर एक बुर्ज में, अरब के रहनेवाले मसम्मद हसन नाम के कारीगर की बनाई हुई "क़िलै शिकन" नामक विशाल तोप रक्खी है। यह कोई २२ फुट लम्बी है। इसके मुँह का व्यास ८ इञ्च है। इस क़िले में एक इससे भी भारी तोप है। इसपर जो लेख खुदा है उसमें इसका नाम "प्रलयङ्करी" लिखा है। औरङ्गज़ेब ने एक योरोपियन के द्वारा इसे सबसे ऊंची बुर्ज पर चढ़ाया था। वह वहां किसी प्रकार न उठाई जा सकती थी। इसलिए औरङ्गज़ेब ने उस योरोपियन को अपने देश जाने से रोक दिया; और कह दिया कि, जब तक वह उसे बुर्ज पर न चढ़ा देगा उसे छुट्टी न मिलैगी और वह हिन्दोस्तान से बाहर क़दम न रख सकैगा। अन्त में इस धमकी से उत्तेजित हो कर, उसने, किसी प्रकार, उसे बुर्ज पर चढ़ाही दिया। इस क़िले में एक बड़ी विचित्र बात है। इसमें एक जगह ऊपर १ इञ्च मोटी और २० फुट लम्बी लोहे की चद्दर जड़ी हुई है। युद्ध के समय यह तपा कर आग के समान लाल कर दी जाती थी। शत्रु यदि क़िले के भीतर पहुँच भी जाय, तो यहां से आगे वह किसी प्रकार न बढ़ सकै। बढ़ने से उसे वहीं झुलस जाना पड़ै।

क़िले के भीतर प्राचीन हिन्दू राजाओं के महलों के खँडहर दूर तक देखे जाते हैं। दो एक मन्दिर भी उजाड़ दशा में पड़े हैं। प्राचीन नगर का अस्तित्व बिलकुल ही जाता रहा है। उसकी जगह पर, इस समय, एक छोटा सा गांव है। १२९३ ईसवी में अलाउद्दीन ने देवगिरि पर क़बज़ा किया; परन्तु क़िले को वह न ले सका। बहुत दिनों तक वह क़िले को घेरे पड़ा रहा। कहते हैं, १८७ मन सोना, दो मन के क़रीब मोती, २५ सेर हीरा और कोई ३०० मन चांदी लेकर उसने क़िले का घेरा उठाया! १३३८ ई० में मुहम्मद तुग़लक ने देवगिरि का नाम दौलताबाद रक्खा; और देहली उजाड़ कर उसे आबाद करना चाहा। इस पागलपन में उसे कहां तक सफलता हुई यह विदित ही है।

रौज़ा का दूसरा नाम खुल्दाबाद है। यह, इस समय, एक छोटा सा क़सबा है। समुद्र के धरातल से २,००० फुट की उँचाई पर यह बसा हुआ है। औरङ्गाबाद से यह ८ मील और यलोरा की गुफ़ाओं से कुल २ मील है। यहां बहुत से रौज़े-मक़बरे-हैं; इसीलिए इसका नाम रौज़ा है। दक्षिण के मुसल्मानों का यह करबला है। जिनकी क़बरें यहां हैं उनमें से औरङ्गज़ेब, उसका दूसरा पुत्र आज़िमशाह, हैदराबाद के राजवंश का प्रतिष्ठापक आसफ़जाह; उसका पुत्र नासिरजङ्ग, मलिक़ अम्बर, थानाशाह इत्यादि मुख्य हैं।

औरङ्गज़ेब की क़बर बहुतही सादी है। उसकी प्रसिद्धि उसके सादेपनही के कारण है। वह खुली हुई है। धूप और वर्षा से रक्षा का कुछ भी प्रबन्ध नहीं है। उसके आस पास बकुल के वृक्ष हैं; उन्हींकी थोड़ी बहुत छाया उसे मिलती है। क़बर के दोनों ओर ५ फुट ऊंची सङ्गमरमर की मनोहर जाली है; उससे इस रौज़े को कुछ थोड़ी सी शोभा आ गई है। सुनते हैं, औरङ्गज़ेब ने कह रक्खा था कि उसकी समाधि में किसी प्रकार का आडम्बर न किया जाय। क़ुरान की आज्ञा के अनुसार वह बिलकुल सादी बनै। जो अपने सगे भाइयों की हत्या से ज़रा नहीं सकुचा; जिसने अपनी निरपराध हिन्दू प्रजा पर घोर ज़ुल्म किया; जिसने अपनी स्त्री की समाधि औरङ्गाबाद में ऐसी अच्छी बनवाई; क़ुरान के वचनों पर विश्वास करके उसीका अपने लिये आडम्बरविहीन क़बर बनवाने की आज्ञा देना आश्चर्य्य की बात है। औरङ्गज़ेब ने कह रक्खा था कि उसके मरने पर, उसकी बनाई हुई टोपियों की बिक्री से जो कुछ मिलै, उतना ही ख़र्च किया जाय। ये टोपियां कोई सात आठ रुपये को बिकीं। औरङ्गज़ेब के लिखे हुए क़ुरान की प्रतियों को बेचने पर, सब मिला कर, ८०५ रुपये मिले। यह रुपया ग़रीबों को बाँट दिया गया था।

औरङ्गज़ेब की क़बर के कुछ ही दूर आगे उसके लड़के आज़िमशाह की क़बर है। उसीके पास

आज़िमशाह की बेगम की भी है। यहीं पर सैयद जैनुद्दीन की क़बर है। वह औरों की अपेक्षा अच्छी है। इन सैयद साहब की मृत्यु १३७० ईसवी में हुई। इसके किवाड़ों पर चाँदी की चद्दर जड़ी हुई है, और सीढियों में रङ्ग बिरङ्गे पत्थर लगे हुए हैं। इसीके पास एक छोटे से कमरे में कुछ कपड़े हैं जिनको लोग महम्मद साहब के बतलाते हैं। साल में केवल एक बार उनके दर्शन मुसल्मान यात्रियों को मिलते हैं। जैनुद्दीन साहब की मसजिद भी, रौज़े में, देखने की चीज़ है।

औरङ्गज़ेब और आज़िमशाह के मक़बरे के सामने आसफ़जाह और उसकी बेगम की क़बरें हैं। परन्तु इन दोनों से अधिक प्रसिद्ध और दर्शनीय ख्वाजा बुरहानुद्दीन अवलिया की क़बर है। १३४४ ईसवी में इनकी यहां पर मृत्यु हुई। १४०० चेलों को ले कर उत्तरी हिन्दोस्तान से ये दक्षिण में मुसल्मानी मज़हब फैलाने के लिए आये थे। यहां हज़रत महम्मद साहब की डाढ़ी के कुछ बाल हैं। सुनते हैं वे हर साल बढ़ते हैं! परन्तु इससे भी अधिक विलक्षण एक और बात वहां के धर्म्मरक्षक यात्रियों को बतलाते हैं। वे कहते हैं कि इस रौज़े के तैयार हो जाने पर उसके और अपने ख़र्च के लिए ख्वाजा साहब के चेलों को बहुत कष्ट होने लगा। इसलिए उन्होंने धन के लिए ख्वाज़ा साहब से प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना क़बूल हुई; और हर रोज़ रौज़े के फ़र्श से चाँदी का एक पेड़ निकलने लगा। यह रोज़ उखाड़ लिया जाता था और इसकी चाँदी बेंच दी जाती थी। इससे इतना रुपया इकट्ठा हो गया कि थोड़े ही दिनों में एक जागीर मोल ले ली गई; और ख़र्च की तङ्गी जाती रही। तबसे पेड़ उगना बन्द हो गया; परन्तु चांदी के फूल कुछ दिन तक फिर भी निकलते रहे। इसके प्रमाण में गच पर, एक जगह, चांदी के कुछ टुकड़े चिपके हुए दर्शकों को दिखलाये जाते हैं!

औरङ्गज़ेब और मुल्लाजी।



औरङ्गज़ेब बादशाह।

औरङ्गज़ेब के विद्यागुरु का नाम मुल्ला सालेह था। जब औरङ्गज़ेब का पढ़ना लिखना समाप्त हुआ तब शाहजहां ने मुल्लाजी को एक छोटी सी जागीर काबुल के पास दे दी। वहीं वे आनन्द से अपने दिन बिताते थे। परन्तु जब आपने सुना कि अपने बाप को क़ैद करके और अपने भाइयों को ठिकाने लगा के औरङ्गज़ेब ने बादशाही सिंहासन की शोभा बढ़ाई तब आपको बुढ़ापे में, लालच ने आ घेरा। आप तुरन्त देहली को रवाना हुए और कुछ दिनों में वहां आकर आ विराजे। औरङ्गज़ेब की बहन रौशनआरा से लेकर जितने अधिकारी और अमीर थे सब आपके पक्षपाती थे। बादशाह के मुल्ला को कौन नहीं मानैगा? इस लिए मुल्लाजी को यह दृढ़ आशा थी कि देहली पहुँचते ही आप अमीरों में दाख़िल कर लिये जावेंगे और उस पद के बहुतही मीठे मीठे फल चखने को पावेंगे। इस आशा से आप देहली पहुँचते ही शाही दरबार में उपस्थित हुए। परन्तु खेद, महा खेद, तीन महीने तक औरङ्गज़ेब ने उनकी तरफ़ आँख उठाकर भी न देखा। जब प्रति दिन मुल्लाजी के दर्शन लेते लेते वह थक गया तब उसने

आज्ञा दी कि मुल्ला जी उससे एकान्त में ऐसे समय मिलें जब उसके पास केवल हकीमुल्मल्क दानिश-मन्दख़ाँ और दो तीन और चुने हुए अमीर हों। आज्ञानुसार मुल्ला सालेह एकान्त में उपस्थित हुए। तब औरङ्गज़ेब ने, उनको सुनाकर, इस प्रकार वक्तृता आरम्भ की –

मुल्लाजी! आप मुझसे क्या चाहते हैं? आपकी क्या इच्छा है? क्या आप समझते हैं कि मुझे आप को एक बहुत बड़ा अमीर बना देना चाहिए? अच्छा, तो मैं अब इस बात का विचार करता हूं कि आप किसी ऐसे पद के योग्य हैं या नहीं। मैं इस बात को मानता हूं कि यदि आप मुझे कोई अच्छी और उपयोगी शिक्षा देते तो आप अवश्य किसी ऊंचे पद को पाने के योग्य समझे जाते। परन्तु आप यह तो फ़रमाइये कि आपने मुझे सिखाया क्या? आपने मुझे यह सिखलाया कि समग्र योरप एक छोटे से द्वीप के बराबर है; और उसमें पोर्चुगल का बादशाह पहले सबसे अधिक शक्तिमान् था; फिर हालैण्ड का; और उसके बाद इंगलैण्ड का। फ़्रांस इत्यादि देशों के बादशाहों के विषय में आप ने कहा कि वे हिन्दोस्तान के छोटे छोटे राजों से बढ़कर नहीं हैं; यहां के बादशाहों की प्रभुता के सामने और देशों के बादशाहों की प्रभुता तुच्छ है; हुमायूं, अकबर, जहांगीर और शाहजहां ही सब से बड़े सौख्यशाली, सब से बड़े बहादुर, और सब से बड़े शक्तिमान् थे; और फ़ारस, उज़बेक, काशग़र, चीन, तातार, पीगू और शाम के नरेश बादशाहे हिन्द का नाम सुनते ही काँपते थे। महान् भूगोल-वेत्ता! अद्भुत-इतिहासज्ञ! मेरे शिक्षक को क्या यह उचित न था कि वह पृथ्वी की सारी बादशाहतों का सही सही हाल कहता; उनकी सेना-सामग्री और सम्पत्ति का वर्णन करता; उनकी युद्ध-प्रणाली, सामाजिक अवस्था, धार्म्मिक विचार और राज्य-पद्धति का विवरण बतलाता? क्या उसका यह धर्म्म न था कि वह यथा-नियम इतिहास सिखलाकर प्रत्येक बादशाहत की उत्पत्ति, उन्नति और अवनति का कारण मुझको बतलाता; और आकस्मिक घटनाओं तथा राज्य-शासन सम्बन्धी भूलों का वर्णन करके यह दिखलाता कि उनके कारण कौन कौन से परिवर्तन हुए, क्या क्या हानि लाभ उठाने पड़े, और देश पर उनका कैसा प्रभाव पड़ा? मनुष्य जाति के इतिहास से मुझे अच्छी तरह अभिज्ञ करा देना तो दूर रहा आपने मुझे मेरे उन पूर्वजों के नाम तक ठीक ठीक न बतलाये जिन्होंने इस विस्तृत बादशाही की नीव डाली उनके जीवन-चरित के विषय में; उनके बादशाह होने की कारणीभूत घटनाओं के विषय में; और उनके विजयी होने में मूल साधनों के विषय में आपने मुझे बिलकुलही अँधेरे में रक्खा। अपने पड़ोसी देशों की भाषा का जानना बादशाह के लिए बहुत ही आवश्यक बात है; परन्तु आपने मुझे अरबी पढ़ाया। ऐसा करने में शायद आपने यह समझा कि आपने मुझ पर कोई बहुत बड़ा यहसान किया। इसी लिए आपने मेरा बहुत सा समय इस भाषा के सीखने में व्यर्थ ख़र्च कराया। आपने यह न समझा कि बिना दस बारह वर्ष के परिश्रम के कोई भी ऐसी क्लिष्ट भाषा में योग्यता नहीं प्राप्त कर सकता। आपने यह न जाना कि कौन कौन से उपयोगी विषयों में एक बादशाह-ज़ादह की शिक्षा होनी चाहिए। आपने बस यह समझा कि उसके लिए व्याकरण की उतनी ही योग्यता दरकार है जितनी कि एक बहुत बड़े व्याकरणी पण्डित को होनी चाहिए। मेरे लड़कपन का अमूल्य समय इस प्रकार आपने नीरस, अनुपयोगी और अन्त-रहित शब्दों को रटाने में व्यर्थ खोया!

क्या आपको यह न मालूम था कि लड़कपन में दीगई शिक्षा कभी नहीं भूलती? क्योंकि उस समय स्मरण-शक्ति प्रबल रहती है। इस लिए लड़कपन में दिये गये सदुपदेश चित्त में जम जाते हैं। इस समय यदि अच्छी शिक्षा दी जाय तो मनुष्य बहुत बड़े बड़े काम करने में समर्थ हो सकता है; और उसके विचार परिमार्जित होकर ऊँचे

दरजे को पहुँच जा सकते हैं। क्या विज्ञान और धर्म्म-शास्त्र की शिक्षा केवल अरबी ही में दी जा सकती है? क्या ईश्वर का भजन-पूजन और विद्याध्ययन हमारी मातृ-भाषा में नहीं हो सकता? आपने मेरे पिता शाहजहां से यह कहा था कि आप मुझे तत्व-विद्या और दर्शन-शास्त्र पढ़ाते हैं। यह सच है। मुझे अख़बी याद है कि, बहुत बर्षों तक, मूर्खता से भरी हुई और निरर्थक बातों पर लेकचर दे देकर, आप मेरा मग़ज़ ख़ाली करते रहे। आप ने मुझे ऐसी बातें सिखलाईं जिनका कुछ काम नहीं पड़ता, और जिनसे मनुष्य को ज़रा भी सन्तोष नहीं होता। आपने ऐसी ऐसी कल्पनाओं को मेरे मग़ज़ में भरने की कोशिश की जो बिलकुल निःसार थीं; जो बहुत परिश्रम पूर्वक याद करने पर भी शीघ्र ही भूल जाती थीं; और जिन के कारण मनुष्य की बुद्धि कुण्ठित हो जाती है। हां, आपने अपनी वह प्यारी तर्क-विद्या मुझे सिखलाई जिससे मेरे जीवन का बहुत सा अमूल्य समय नष्ट गया; और जब मैं आप से अलग हुआ, तब सिवा कुछ अर्थहीन, क्लिष्ट, अटपटे और लम्बे लाक्षणिक शब्दों के आपकी विज्ञान-विद्या की और कोई बात मुझे स्मरण न रही। आपसे मैंने वे पारिभाषिक शब्द सीखे जो दर्शन-शास्त्र को जानने का सा भाव बतलानेवालों ने अपने अभिमान और अज्ञान को ढकने के लिये गढ़े हैं। ये दर्शन-शास्त्री, आपही के समान, लोगों पर यह प्रकट करते हैं कि वे अपना प्रचण्ड ज्ञान दूसरों को देकर उनको भी सज्ञान कर सकते हैं; और उनके पेचीदा शब्द-समूह में कोई विलक्षण और लोकोत्तर ज्ञान भरा हुआ है। यदि आपने मुझे वह तर्कना-प्रणाली सिखलाई होती जिसमें कार्य-कारण-भाव प्रधान माना जाता है, और जिसमें चित्त को तब तक सन्तोष नहीं होता जब तक किसी वस्तु का सच्चा ज्ञान नहीं हो जाता; यदि आपने मुझे ऐसी शिक्षा दी होती जिससे आत्मा की उन्नति होती है और जिसके कारण विपत्ति आने पर मनुष्य स्थिर रह सकता है; यदि आप ने मुझे मनुष्य के स्वाभाविक धर्म्म सिखलाये होते, सृष्टि की रचना-समझाई होती, और उसके उत्पत्ति और नाश होने का वर्णन किया होता, तो मैं आपका उतना ही कृतज्ञ होता जितना सिकन्दर अरस्तू का हुआ था। बोलिए क्या राजा और प्रजा के धर्म्म सिखलाना भी आपको उचित न था? यह एक ऐसा विषय है जिसका जानना बादशाह के लिए बहुत ही आवश्यक है। क्या, कभी, स्वप्न में भी, आपने मुझे युद्ध-विद्या सिखलाई या व्यूह-रचना सिखलाई, या चढ़ाई करना सिखलाया? सौभाग्य-वश इन विषयों में, मैंने आपसे अधिक विज्ञ पुरुषों से सलाह ली! निकलिए! सीधे अपने गाँव को चले जाइए! आज से कभी किसीसे यह न कहना कि आप कौन हैं!

जिस समय मुल्लाजी पर वागबाणों की यह वर्षा हुई, हकीमुलमलूक दानिशमन्दख़ां वहां उपस्थित थे। उन्होंने यह व्याख्यान बर्नियर को सुनाया और बर्नियर ने उसे यथातथ्य अपनी पर्य्यटन-पुस्तक में प्रकाशित किया।

ज्वार भाटा।

स्थल की भांति जल में भी अनेक चमत्कारी दृश्य हैं। विद्वानों के चित्ताकर्षण करनेवाली समुद्र में अनेक बातें हैं जिनमें से साधारण "ज्वार भाटे" की बात को ही सरस्वती के पाठक आज सुनें। जिन्होंने कभी समुद्र नहीं देखा उन्होंने ज्वारभाटे की परिभाषा अवश्य अपने शिक्षाकाल में पढ़ी होगी। अब इस लेख में यह बताया जाता है कि चन्द्रमा का प्रभाव समुद्र पर किस प्रकार होता है कि जिससे नियमित रूप पर समुद्र का जल किनारे से हट जाता है और फिर चढ़ आता है। यह सर्वदा रात दिन होता है और प्रकृति के दृढ़ नियम में कभी कोई बात विपरीत नहीं होती। सृष्टि के नियमों में यह एक अद्भुत नियम है जिससे चन्द्र सूर्य और पृथ्वी की परस्पर

आकर्षण-शक्ति का भेद विदित होता है। इसका दूसरा कोई ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। सूर्य्य और चन्द्रमा दोनों पृथ्वी को आलिङ्गन करना चाहते हैं; परन्तु पृथ्वी अपने वश-भर दोनों में से किसीको स्पर्श करना नहीं चाहती। इधर चन्द्रमा सूर्य से कहता है—"तू मेरे ठण्ढे पीले मुँह पर न जा! मैं पृथ्वी से २,३८,३३८ मील दूर हूं, तौभी, देख, पृथ्वी का द्रवीभूत हृदय (जल) मैं अपनी ओर अवश्य ही खींचता हूं"। सूर्य्य उत्तर देता है "मैं चाहता तो पृथ्वी को मैंने कभी का हृदय से लगा लिया होता, परन्तु वह बेचारी मेरे तेज से डरती है। इससे मैं कोई विशेष चेष्टा नहीं करता। परन्तु तौभी, हृदय से मैं उसका प्रेम नहीं भुला सकता। तू मेरे सामने क्यों वृथा डींग हांकता है। तेरे मुँह पर जो कुछ झलक है वह सब मेरी ही कृपा है। यदि मैं तुझसे विमुख हो जाऊं तो किसीको तेरा मुँह भी दिखाई न दे। तेरा आकार ही कितना है? अधिक से अधिक २१६० मील! तुझ से तो पृथ्वी ही कई गुना बड़ी है। वह ८००० मील है। तुझे लेकर पृथ्वी क्या प्रसन्न होगी? तू आकार में तो केवल उसका चतुर्थांश है।" यह सुन कर चन्द्रमा बोलता है—"मैं चाहे जैसा हूं; परन्तु हूं तो निकट। क्या तू ने पण्डितों का कथन नहीं सुना, कि स्त्री जिसके निकट रहती है उसीको वह प्यार करती है? उस दिन ज्योतिषियों की पृथ्वी पर एक सभा थी। उन्होंने एक यन्त्र से मेरी तेरी दूरी का अनुमान लगाया था, और निश्चय किया था कि सूर्य ९,२८,००,००० मील दूर है। मैं चाहे जैसा हूं, परन्तु प्रतिदिन पृथ्वी को आकर्षण करना मेरा व्रत है। और मैं इसे यथाशक्ति कभी न छोड़ूंगा"। इस प्रकार इन दोनों को झगड़ते देख पृथ्वी मुसकुराती है और कहती है—"क्यों वृथा तकरार करते हो? तुम दोनों ही के प्रेम की मैं कृतज्ञ हूं। सूर्य्य महाराज की कृपा के लिए मैं सर्वदा उनकी परिक्रमा करती रहती हूं; और अपनी सृष्टि का जीवन उन्हींकी कृपा पर अवलम्बित समझती हूं। परन्तु चन्द्र! तू सदा का खोटा है। मेरे समुद्र के जल को थोड़ा खींच कर, तू समझता है कि किसी दिन तू मुझे अपने घर ही ले जायगा। परन्तु अपने चित्त का ध्यान रख। उमर भर तू मेरे चारों ओर फिरा कर, परन्तु मैं अपना मन कभी कलुषित न करूंगी। मेरा थोड़ा सा जल जो तू खींचता है वह केवल समुद्र का ऊपरी भाग है। उससे मेरी प्रजा का उपकार समझ कर मैं कुछ परवाह नहीं करती। जहाज़ों के आने जाने में इससे बड़ी सुगमता होती है। मेरे किनारे पर का कूड़ा करकट शुद्ध हो जाता है; नदियों का मुख धुल जाता है। परन्तु मुझ में इतनी शक्ति है कि मैं किसीका चिन्तन न करके, अपने आपही मगन रहती हूं। मेरे समुद्र के निम्नगामी जल पर तेरे आकर्षण का कुछ भी असर नहीं होता"।

ऊपर लिखे गये वार्तालाप को पढ़ कर पाठक समझ गये होंगे कि यह सब ज्वार भाटे का विषय है। सूर्य्य की सहायता से चन्द्रमा पृथ्वी को आकर्षण करता है। इधर पृथ्वी अपना बल दिखाती है। फल यह होता है कि समुद्र का जल कुछ उमड़ पड़ता है। सोचिये २,३८,००० मील दूर होने पर चन्द्रमा कितना ज़ोर लगाता है।

दिन में दो बार ज्वार भाटा होता है। अमावास्या और पूर्णिमा को जल का उठान अधिक और अष्टमी को कम होता है। अमावास्या और पूर्णिमा को सूर्य चन्द्र दोनों की आकर्षण-शक्तियां मिल कर जल खींचती हैं और अष्टमी को केवल चन्द्रमा रह जाता है। पिछले वर्ष मैं चीन देश में था। शानहाइकान नामक नगर समुद्र तट के पास ही है। वहां मेरा निवास था। समुद्र के किनारे किनारे यहां से बड़ी दीवार आरम्भ होती है। उसीके सिरे पर बैठ कर मैं छुट्टी के दिन ज्वारभाटे का तमाशा देखा करता था। देखने में आता था कि नियत समय पर समुद्र का जल किनारे की ओर क्रमशः बढ़ने लगता था जो किसी रोक को न मान कर एक ख़ास जगह जाता और फिर धीरे धीरे लौट जाता था। जो

लोग बम्बई में रहते हैं उनको भी ज्वार भाटा देखने का संयोग आ सकता है। कलकत्ते में भी नदी का जल घटता बढ़ता है। यदि ज्वार भाटा न होता ते। गङ्गासागर से इधर बड़े जहाज़ों का आना कठिन हो जाता। अब जो बड़े बड़े जहाज़ कलकत्ते तक आते जाते हैं वे सब इस ज्वारा भाटे के कारण से ही आ जा सकते हैं। जिस आकर्षण शक्ति का ऊपर वर्णन किया गया वही इसका आदि कारण है। पृथ्वी के थल पर चन्द्रमा की शक्ति का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता; परन्तु जल अवश्य ऊपर के। उठ जाता है। पृथ्वी अपनी कीली पर २४ घण्टे में घूमती है। इसलिए उसके समुद्र-भाग के। एक बार चन्द्रमा के सामने और दूसरी बार पीछे हो जाना पड़ता है। सामने होने से जल ऊपर चढ़ कर नीचे जाता है; और पीछे होने से नीचे जाकर ऊपर चढ़ता है।

समुद्र के किनारे जहां जहाज़ों के उतरने की जगह है, वहां वहां ज्वारभाटे की गति परीक्षा करने के लिए कर्मचारी नियुक्त है। इनमें कहीं कहीं ऐसे विद्वान लोग भी हैं जिन्होंने इस विषय के बड़े बड़े ग्रन्थ लिखे हैं। भारतवासियों का एक बड़ा समुदाय समुद्रयात्रा के। अपने धर्मविरुद्ध समझता है। अस्तु, समुद्र-सम्बन्धी ज्ञान भी लोगों के। कुछ नहीं है। संसार में सब जातियों के झण्डे समुद्र में उड़ते हैं; परन्तु हिन्दुओं का एक भी जहाज़ नहीं। इसीसे जीवित जातियों में हिन्दुओं का नाम भी नहीं।

महेन्दुलाल गर्ग।

उत्तर।

नवम्बर १९०३ की सरस्वती में—

अरण्यकं गृहस्थानं श्वशुरौ यद्रजः कणाः।
स्वयमौद्वाहिकं गेहं तस्मै रामाय ते नमः॥

इस श्लोक का अर्थ पूछा गया था। रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग की टीका आरम्भ करने के पहले इस श्लोक के द्वारा टीकाकार मल्लिनाथ ने मङ्गलाचरण किया है। श्लोक में चार चरण होते हैं। इसमें भी चार ही हैं। उनमें से प्रत्येक का अर्थ नीचे लिखे अनुसार भासित होता है—

(१) अरण्यकं गृहस्थानं। कोशों में पत्नी का नाम गृह भी है। अतएव इससे यह अर्थ निकलता है कि (क) जिसकी पत्नी (सीता) का स्थान, रहने की जगह, अरण्यक अर्थात् वन है। उस समय रामचन्द्र सीता का परित्याग कर चुके थे, और वे जाकर वन में रहने लगी थीं। पहले भी १४ वर्ष तक वे रामचन्द्र के साथ वन में रही थीं। अतएव वन ही उनका घर हुआ। अथवा (ख) बहुत काल तक वन में रहने के कारण, जिस रामचन्द्र का गृहस्थान, घर, वन हो गया। अथवा (ग) पत्नी का अर्थ घर होने के कारण उसके वियोग होने पर, जिसका घर वन की समता के। प्राप्त हो गया था। लिखा है—"गृहिणी गृहमित्याहु र्न गृहं गृहमुच्यते" अर्थात् सीता का परित्याग करने के कारण जिस रामचन्द्र के। अपना घर जङ्गल सा मालूम होता था।

(२) श्वशुरौ यद्रजः कणाः। सीता वनही में पृथ्वी से उत्पन्न हुई थीं। पुराणों में यही लिखा है। अतएव, यत् अर्थात् जिस वन के रजःकण ही जिस रामचन्द्र के सास ससुर हैं। पृथ्वी परमाणु रूप मानी गई है; उसके परमाणु रज के कणही हैं। उन्हीं कणों ने सीता के। उत्पन्न किया। इसलिए वही रामचन्द्र के सास भी हुए और ससुर भी हुए।

(३) स्वयमौद्वाहिकं गेहं। रामचन्द्र का विवाह धनुष यज्ञ की शाला में हुआ था। वे विष्णु का अवतार माने जाते हैं। और विष्णु का एक नाम यज्ञ अथवा यज्ञपुरुष भी है। अतएव वे स्वयं अपने उद्वाह (विवाह) सम्बन्धी घर हुए; अर्थात् उनका शरीरही उनका विवाह-मण्डप हुआ।

(४) तस्मै रामाय ते नमः। ऐसे तुम राम के। नमस्कार है।

मल्लिनाथ ने जिस सर्ग में जैसा मङ्गलाचरण किया है प्रायः उस सर्ग की कथा के अनुरूपही

उन्होंने किया है। रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग का पहला श्लोक यह है—

कृतसीतापरित्यागः स रत्नाकरमेखलाम्।
बुभुजे पृथिवीपालः पृथिवीमेव केवलाम्॥

अर्थात् सीता का परित्याग करनेवाले उस पृथ्वीपाल (रामचन्द्र) ने रत्नाकर (रत्नों के आकर, समुद्र) रूपी मेखला को धारण करनेवाली एक मात्र पृथ्वी का उपभोग किया। अर्थात्, सीता के न रहने से, वे केवल पृथ्वी के पति हुए; पृथ्वीही उनकी एक मात्र पत्नी रह गई। जान पड़ता है इसी श्लोक के आश्रय पर मल्लिनाथ ने पूर्वोक्त मङ्गलाचरण किया है। इससे रामचन्द्र और पृथ्वी का सम्बन्ध बहुत दृढ़ होता है; उनका और उनकी पत्नी का वासस्थान भी वनस्थली रूपिणी पृथ्वी ही हुई; उनके सास और ससुर भी पृथ्वीही हुई; उनका शरीर भी यज्ञ-स्थल रूप पृथ्वीमय हुआ; और अब पृथ्वीही उनकी एकमात्र पत्नी भी हुई।

अनेक सज्जनों ने इस श्लोक का अर्थ हमारे पास भेजा है। उनमें से शाहजहांपुर के अन्तर्गत पुवायां के श्रीयुक्त राजा फ़तेहसिंह वर्म्मा का अर्थ ठीक जान पड़ता है। उन्होंने इसका वही अर्थ लिखा है जो ऊपर दिया गया है। कानपुर के प्रसिद्ध वकील, और हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और लेखक, राय देवीप्रसाद, बी० ए०, बी० यल०, ने भी प्रायः इसीसे मिलता हुआ अर्थ भेजा है। श्लोक के पहले और दूसरे चरण का अर्थ तो कई सज्जनों ने ठीक लिखा है; परन्तु तीसरे चरण का अर्थ केवल राजा फ़तेहसिंह ने ठीक भेजा है इस श्लोक के तीनही चरण क्लिष्ट हैं; चौथा बिलकुल सीधा है।

पुस्तक-परीक्षा।

धर्म्म-विचार। १४२ पन्ने की पुस्तक। डील डौल मध्यम। मूल्य।) कर्ता राय बहादुर लाला बैजनाथ, बी० ए०, यफ० ए० यू०, जज, अदालत ख़फ़ीफ़ा, इलाहाबाद।

कुछ दिन हुए "धर्म्मसार" नाम की एक छोटी सी पुस्तक हमारे पास समालोचना के लिए लाला बैजनाथ ने भेजी। वह उन्हींके नाम से प्रकाशित हुई है; परन्तु उसका कर्तृत्व उन्होंने, साफ़ तौर पर, अपने ऊपर नहीं लिया। पुस्तक के बेठन पर इस विषय में सिर्फ़ इतना ही लिखा है कि यह एक मुमुक्षु का अनुभव है। धर्म्मसार पद्यात्मक पुस्तक है। इसमें "धर्म्म, ज्ञान, वैराग, उपासना और देश-सुधार" आदि पर दोहा, चौपाई और 'भजनों' में कविता है। इसके सिद्धान्त, इसके भाव, और इसकी विचार-परम्परा को धर्म्म-विचार में कही गई बातों से मिलान करने पर यह निर्भ्रान्त सूचित होता है कि दोनों का कर्ता एक है। अतएव धर्म्म-विचार के विचारक ही को हम धर्म्मसार का "मुमुक्षु" मानते हैं। धर्म्मसार को हमने पढ़ा। पढ़ने पर हमको उसकी भाषा बिलकुल बेमुहाविरे, व्याकरण और छन्दःशास्त्र के नियमों से बहुत जगह पर विच्युत, और कई दूसरे दोषों से दूषित मिली। यहां तक कि दोहा और चौपाई के समान सीधे छन्दों का वज़न भी अनेक स्थलों पर ग़लत मिला। इस पुस्तक के अन्त में एक नामहीन सूचना छपी है। उसमें लिखा है कि पढ़नेवाले कविता के दोषों पर ध्यान न दें। पहले तो इसमें जो कुछ है वह कविता कही जा सकती है या नहीं, यही विचारणीय है। क्योंकि पद्य और चीज़ है, कविता और। फिर यह विचार करने की बात है कि जिसे पद्य लिखना नहीं आता वह गद्यही क्यों न लिखै? धर्म्म-सार का विषय विशेष महत्व का है। इस लिए यदि उसकी रचना निर्दोष होती तो लोगों का चित्त उसकी ओर अधिक खिँचता। इसमें दोष हैं ज़रूर; परन्तु इसमें जो वस्तु है वह उपादेय है। इस लिए इसके दोषों पर पढ़नेवाले को तादृश दृष्टि देने की आवश्यकता भी नहीं। कई कारणों से हम आज तक इस पुस्तक की समालोचना नहीं कर सके। परन्तु, इस दरमियान में, आपकी दूसरी पुस्तक "धर्म्म-विचार" सरस्वती के मैनेजर की मारफ़त हमारे

पास समालोचना के लिए आ गई। इस लिए अब हमको अपना कर्तव्य करना ही पड़ेगा। "धर्म्मसार" की आलोचना अब आवश्यक नहीं; क्योंकि उसका विषय "धर्म्मविचार" के अन्तर्भूत है।

"धर्म्मविचार" के कर्ता केवल धर्म्म के ही विचारक नहीं हैं; समाज के संस्कारक भी हैं; क्योंकि हिन्दूधर्म्म इन दोनों की खिचड़ी है। शरीर और शरीरी, माया और ब्रह्म, ईश्वर और जीव का युग्म जैसा है इन दोनों का भी युग्म कुछ कुछ वैसा ही है। जान पड़ता है, पुस्तककर्ता ने इस देश के शास्त्र का अध्ययन किया है। उनकी पुस्तक तो ऐसा ही साक्ष्य दे रही है। शास्त्र शब्द यहां विशेष व्यापक समझना चाहिए—श्रुति, स्मृति, उपनिषद, दर्शन, पुराण, इतिहास के उसके विशालोदर में गये समझिए। इनके सिवा विचारक महाशय ने अँगरेज़, अमेरिकन, जर्मन और फ़रासीसी दार्शनिक और तत्ववेत्ताओं के विज्ञान-तत्व का भी आकलन किया है। यह बात भी उनकी पुस्तक कह रही है। फिर, आपने योरप के कई देशों की सैर भी की है, और तद्द्वारा अपनी धार्म्मिक और सामाजिक समझ को और भी विशेष वृद्धिङ्गत किया है। सुनते हैं, आपने अँगरेज़ी में भी कई किताबें लिखी हैं और उनमें धर्म्म और समाज के तत्वों का निरूपण किया है। इन किताबों की महिमा भी बहुत सुनने में आई है। इनमें से एक आध का हिन्दी अनुवाद भी हुआ है। सामाजिक-सुधार के निमित्त, हर साल, वैश्यों का जो जमाव होता है उसके संस्थापक, उसके नेता, उसकी आत्मा, उसकी सञ्जीवनी शक्ति—सब आपही हैं। यह 'धर्म्मविचार' की नहीं, किन्तु उसके कर्ता की आलोचना हुई; परन्तु, यह आवश्यक थी। इस भूमिका से "धर्म्म-विचार" का महत्व ख़ूब समझ में आ जायगा।

"धर्म्म-विचार" के प्रणेता को हम धन्यवाद देते हैं—हृदय से, योंही बाहर से नहीं—इस लिए कि अँगरेज़ों में बहुदर्शी होकर और योरप की हवा खाकर भी, आपने हिन्दी को अस्पृश्य नहीं समझा। उसमें आपने पुस्तकें लिखीं; और ऐसी पुस्तकें लिखीं जिनमें अपने शास्त्रों के पवित्र तत्व का विचार किया। समाज-संस्कारक और धर्म्मविचारक के लिए कुछ गुण बहुत ज़रूरी होते हैं। उसे विद्वान् और शास्त्र में पारदर्शी होना चाहिए; जो बात करने के लिए वह दूसरों को उपदेश दे उसका आदर्श उसे स्वयं बनना चाहिए; औरों की दृष्टि में उसे सम्मान्य, सदाचरणशील और पवित्रात्मा होना चाहिए; और आचरण द्वारा ऐसा होने का प्रमाण भी उसे देना चाहिए। जब तक ये बातें नहीं पाई जातीं तब तक उसके उपदेशों का तादृश उपयोग नहीं होता। भारवि ने कहा है—

> ननु वक्तृविशेषनिस्पृहा
> गुणगृह्या वचने विपश्चितः।

अर्थात् समझदार आदमी वक्ता की विशेषता का ख़याल नहीं करते—वह बालक है या वृद्ध, ब्राह्मण है या इतर जाति, यह वे नहीं देखते। वे केवल उसके कहने की ओर ध्यान देते हैं। यदि उसमें कुछ सार है तो वे उसे ग्रहण कर लेते हैं; और निःसार को छोड़ देते हैं। परन्तु यह ऐसा समय है कि भारवि की "विपश्चित्" संज्ञा के अधिकारी बहुत ही कम हैं। इस लिए उपदेशक के लिए पूर्वोक्त गुणों की बड़ी ही आवश्यकता है। उनके बिना उसकी बात का अच्छा प्रभाव समाज पर नहीं पड़ सकता।

धर्म्मविचारक में शास्त्रज्ञता का होना, इस ज़माने में, प्रधान गुण समझा जाता है। भारतवर्ष का शास्त्र संस्कृत में है। अतएव जो अच्छा संस्कृतज्ञ नहीं है उसके उपदेशों पर सुननेवालों की कम आस्था होती है। "धर्म्मविचार" में वेद, उपनिषद, पुराण, दर्शन, आदि की अनेक बातें हैं। यही नहीं उन की सारता और असारता का विवेचन भी है; खण्डन मण्डन भी है।

हमको हर्ष है, "धर्म्मविचार" के विचारक में शास्त्रज्ञता, और साथही, संस्कृतज्ञता की मात्रा मतलब भर के लिए काफ़ी जान पड़ती है। उनकी

पुस्तक इस बात की दृढ़ता से गवाही दे रही है। वर्णयोजना (इम्ला) की उसमें दे। चार ग़लतियां जे। हमको मिलीं वे या ते। उनकी असावधानता से हुई हैं, या अनवधानता से। शास्त्र और संस्कृत के ज्ञान के सिवा धर्म्मोपदेशक के लिए और जिन गुणों की अपेक्षा होती है वे सब भी, हमको आशा है, इस पुस्तक के रचयिता में होंगे।

"धर्म्मविचार" को पढ़कर पुराने ख़याल के आदमियों को शायद बुरा लगैगा; शायद उनके हृदय पर आघात होगा; शायद वे बात बात पर ज़ोर से शिरःकम्प करैंगे। परन्तु इन बातों का ज़रा भी विचार न करके ग्रन्थकार ने जो कुछ उचित समझा है उसे निडर होकर लिख दिया है। पुराने और नये नियमों में जो कुछ उनको लाभदायक जान पड़ा है उसे उन्होंने ग्राह्य, और जो कुछ हानिकर जान पड़ा है उसे त्याज्य समझा है। उनका उसूल, जान पड़ता है, यह है कि—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।

अस्तु। इस पुस्तक के चार भाग हैं। प्रथम में भारत की प्राचीन दशा की संक्षिप्त समालोचना है; दूसरे में मझली दशा की। तीसरे में आजकल की। और चैाथे में अध्यात्म विचार की। चैाथा भाग औरैां की अपेक्षा अधिक महत्व का है। उस में निष्काम कर्म्म, उपासना, ज्ञान, आत्मा, परमात्मा, और सृष्टि आदि का मुख़तसिर तैार पर बहुत अच्छा और सबकी समझ में आने लायक़ वर्णन है। इस भाग को पढ़ने से यह भासित होता है कि इसका प्रणेता कर्म्मठ, धर्म्मशील, सात्विक-वृत्तिमान, सदाचारी और सत्पथगामी है। इससे उनकी कही हुई बातैां पर विचार करने को जी चाहता है; क्योंकि उनमें बनावट नहीं जान पड़ती। उनकी पुस्तक के इस भाग को पढ़ते समय कई दफ़ा हमको अश्रुपात हो गया। उन्होंने धर्म्म का लक्षण किया है—

"जिस काम से अपना अनिष्ट होता हो उसे दूसरों के लिए मनसा, वाचा, कर्म्मणा कभी करने की इच्छा न करना ही सद्धर्म्म है"।

कैसा सुन्दर लक्षण है! कैसा व्यापक सिद्धान्त है! यह सबके बोधगम्य होने लायक़ है; इसे सब हृदयङ्गम कर सकैंगे; इसमें शायद मत-विरोध भी न होगा। ऐसी ही और भी कितनी ही अच्छी अच्छी बातैं इस भाग में हैं—ऐसी बातैं जो निर्विवाद मानी जा सकती हैं। निष्काम कर्म्म की जगह जगह पर तारीफ़ है। भक्ति और ज्ञान से भी उन्नति करने का उपदेश दिया गया है। मोक्ष के अंग-भक्ति, ज्ञान और कर्म्म-धर्म्मोन्नति के लिए भी उपयोगी बतलाये गये हैं; परन्तु इन सब में निष्काम कर्म्म को प्रधानता दी गई है। सामाजिक और धार्म्मिक सुधार के लिए नीचे लिखी हुई बातैां की आवश्यकता दिखलाई गई है—

(१) लड़कों का १६ और लड़कियों का ११-१२ वर्ष के ऊपर में विवाह करना।

(२) ब्राह्मणों को धर्म्म-शिक्षा देना।

(३) अखाद्य (मांस आदि) न खाना; और अपेय (मद्य आदि) न पीना।

(४) स्त्रियों को शिक्षा देना-पढ़ाना।

(५) तीर्थाटन करके वक़्त को और रुपये को व्यर्थ न फूंकना। पण्डे, गुसाईं, ब्राह्मण, गयावाल आदि जो प्रायः दुर्व्यसनी हैं उनको दान न देना।

(६) दानपात्र को दान देना।

(७) जाति सम्बन्धी छोटे छोटे भेद न मानना। १८९१ ई० की मनुष्यगणना के हिसाब से, इस पुस्तक में, जाति भेदों की संख्या इस प्रकार दी गई है—

(क) ब्राह्मणों में १८८६ भेद।
(ख) क्षत्रियों में ५९० भेद।
(ग) शूद्रों में असंख्यात भेद।
(घ) वैश्यैां में १२३ (!) के सिवा और भी बहुत से भेद; परन्तु, यह नहीं लिखा कि और कितने?

(८) समुद्र-यात्रा का निषेध न होना; जो कोई योरप या अमेरिका आदि को जाय उसको जाति से बहिष्कृत न करना।

(९) ३३ करोड़ देवता न मानना। संस्कृत में जो कुछ लिखा है उसे वेद वाक्य न समझना। शास्त्रों की समालोचना करना; जो प्रामाणिक और समयानुकूल हो उसे ही ग्रहण करना; बाक़ी त्याज्य समझना।

ऐसे ही और भी उपदेश हैं। परन्तु विधवा-विवाह रह गया है। शायद ग्रन्थकार ने इस बात को छेड़ना उचित नहीं समझा। उन्होंने यह भी लिखा है कि बनारस और नवद्वीप के पण्डित प्रायः लालच से व्यवस्था देते हैं; अतएव वे लोग व्यर्थ जाति-क्षोभ को बढ़ाते हैं। मन्दिर बनवाने से विशेष लाभ नहीं; तीर्थाटन से ही शुद्धि नहीं होती; प्रयाग और काशी आदि के रहनेवाले ही अधिक पुण्यशील नहीं होते; मूर्ख सन्यासियों को खिलाना बुरा है; जगन्नाथ के रथ के नीचे दबकर मरने से मोक्ष नहीं होता; इत्यादि। यह, इस पुस्तक के तीसरे भाग की बात हुई। यह भाग समाज-संशोधकों की नवीन विचार-परम्परा से प्रायः परिपूर्ण है। चौथे भाग का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। उसमें इतनी बात लिखने को रह गई थी कि पञ्चमहायज्ञ और सन्ध्या-गायत्री करने का उसमें उपदेश है। अतएव यह आदेश पुराने प्रकार का हुआ। इससे यह स्पष्ट है कि पुस्तक-प्रणेता ने कोई कोई पुरानी बातें भी उपादेय समझी हैं। अब इन नई पुरानी बातों में कौन अनुकरणीय है और कौन अननुकरणीय, इसका विचार सरस्वती में हम नहीं कर सकते। नए और पुराने विचार के अग्रणी इसका विचार करें तो आनन्द से कर सकते हैं।

पुस्तक के दूसरे भाग में बुद्ध, शङ्कराचार्य, चैतन्य, तुलसीदास आदि धर्म्मप्रवर्तक और भक्तों की बातें हैं। इसमें यह लिखा गया है कि पहले जातिभेद गुण-कर्म्म से माना जाता था; परन्तु पौराणिक समय में जन्म से माना जाने लगा। ब्राह्मणों ने ज़ोर पकड़ा और जो कुछ चाहा उसे धर्म्म के नाम से चला दिया। धर्म्मविचारक महाशय, यदि, इस मौके पर, यह भी लिख देते कि ब्राह्मणों ने ऐसा क्यों किया तो बहुत अच्छा होता। अपने स्वार्थ के लिए उन्होंने ऐसा किया या किसी और मतलब से? उन्होंने जान बूझ कर अनुचित किया अथवा समय के अनुकूल वैसा करने की आवश्यकता ही आ पड़ी? इस भाग में पुराणों की अव्यवस्था और उनके मतभेद का भी उल्लेख है। वे ब्राह्मणों के द्वारा लिखे गये बतलाये गये हैं; और, मतमतान्तर के स्थापन करने के लिए उनमें अनेक विचित्र कथाओं का सन्निविष्ट किया जाना भी सूचित किया गया है। इसमें सूरदास, तुलसीदास, नानक और कबीर आदि भक्तों की प्रशंसा है। रामभजन की महिमा भी तुलसीदास के सम्बन्ध से इसमें अच्छी है।

"धर्म्मविचार" के पहले भाग में वेद, उपनिषद् स्मृति और इतिहास की समालोचना है। इस वैदिक काल को विचारक ने भारत का सबसे अधिक उन्नत काल माना है। इस देश के भावुक विद्वानों की तरह उनका भी यही मत है कि वेद अपौरुषेय हैं, अनादि हैं और ईश्वर के श्वास से उत्पन्न हुए हैं। वेद के शब्द और अर्थ नित्य हैं। वेद के मन्त्र, ऋषियों को, तपस्या करते करते, समाधि अवस्था में प्राप्त हुए हैं। जिसने इस पुस्तक का तीसरा भाग बनाया है उसके मुँह से ऐसा सुन कर शायद किसी किसीको चकित और स्तम्भित होना पड़ेगा; क्योंकि, इस समय, वैदिक साहित्य के पारगामी पण्डित कुछ और ही कह रहे हैं। परन्तु, हम चकित होने का विशेष कारण नहीं देखते। ग्रन्थकार का मत है कि शब्द नित्य है। शब्द को एक प्रकार का उच्चारण विशेष कहना चाहिए। उसका कभी नाश नहीं होता; उसे कभी कोई नये सिरे से नहीं बनाता। अतएव—

अग्निमीड़े पुरोहितं

आदि मन्त्रों में जो उच्चारणबद्ध शब्द-शक्ति है वह अविनाशिनी है। स्वर और व्यञ्जनरूपी वर्णों

से प्रतिबद्ध होने के पहले भी वह थी और इन वर्णों का नाश हो जाने पर भी वह रहैगी। यदि ग्रन्थ-कर्ता महोदय का मत एतादृशी तर्कना पर स्थित है, तो उसमें आपत्ति उठाने का कोई कारण हम नहीं देखते। इस सिद्धान्त के अनुसार उनके "धर्म्म-विचार" को भी यदि कोई अनादि और अपौरुषेय मानैं तो मान सकता है।

"धर्म्म विचार" के रचयिता के मत में 'आर्य्य' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है। अतएव वैदिक साहित्य के अन्य विद्वानों का किया हुआ अर्थ अशुद्ध अथवा भ्रमात्मक ठहरा। इन विद्वानों ने उपपत्ति सहित आर्य्य शब्द के धात्वर्थ का विचार करके उसका अर्थ कृषक अर्थात् किसान किया है। इस अर्थ के पोषक उन्होंने प्रमाण भी दिये हैं। परन्तु अपने अर्थ को सही सिद्ध करने के लिए विचारक महाशय प्रमाण देना भूल गये हैं। जिस समय आर्य्य आदिम अवस्था में थे, और शीघ्र शीघ्र स्थानान्तर करते थे, उस समय जो लोग एक जगह स्थिर होकर रह जाते थे, और खेती करने लगते थे, वे औरों की दृष्टि में श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित अवश्य गिने जाते थे। कृषिकार्य निकृष्ट नहीं माना जाता था। अतएव आदिम आर्य्यों को कृषक कहने से उनकी ज़रा भी मानहानि नहीं। क्या, इससमय, हमलोग कृषक (agiculturist) नहीं हैं?

इस पुस्तक के प्रथम भाग में श्रुति और स्मृतियों की आलोचना के अनन्तर इतिहासों की बात कही गई है। रामायण और महाभारत इतिहास में गिने गये हैं। इन दोनों की खूब तारीफ़ की गई है; और वह सर्वथा युक्त भी है। भागवत और अन्य पुराणों में श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रखनेवाली तथा और भी कितनीहीं कथायें पुस्तककर्ता ने प्रक्षिप्त और कल्पित बतलाई हैं और उनके लिए पुराण प्रणेताओं पर आक्षेप किये हैं। आज कल लोग इतिहास उसे कहते हैं जिसमें सच्ची घटनाओं का सन्निवेश हो। परन्तु पुस्तककार ने यह नहीं लिखा कि उनकी समझ में इन दो इतिहासों का कौन भाग कल्पित है। भारत के विषय में आप ने इतना ही लिखकर छोड़ दिया कि "इस ग्रन्थ में बहुत सा प्रक्षेप समय समय पर हुआ है"। बस। और रामायण में आपने उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त बतलाया है। परन्तु इस कथन की पुष्टि में प्रमाण देना यहां भी रह गया है। एक कपि का १०० योजन समुद्र कूद जाना और हिमालय से एक पर्वत के टुकड़े को उठा कर लङ्का को उड़ जाना आदि मनुष्यातिग बातों को शायद आप ऐतिहासिक न मानैं। अतएव इस विषय में वे अपना मत स्पष्ट लिख देते तो क्या ही अच्छा होता। आपने बङ्कीम बाबू के "कृष्णाचरित" को शायद देखाही होगा। उसमें महाभारत, भागवत, आदि के विषय में भी, और श्रीकृष्ण के विषय में भी, बहुत कुछ जानने योग्य बातें हैं।

भक्ति, ज्ञान और निष्काम कर्म्म से आध्यात्मिक उन्नति अवश्यही होती है। इस बात को सभी मानते हैं। परन्तु "उन्नति" शब्द की ठीक परिभाषा हमको इस पुस्तक में न मिली। यदि उससे आत्मा की उन्नति से ही मतलब है तो हमको कुछ भी वक्तव्य नहीं। परन्तु कहीं कहीं इसमें देशोद्धार और देशोन्नति आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जिनसे कुछ औरही अर्थ निकलता है। निष्काम कर्म्म, अनन्य भक्ति और अभेद ज्ञान आदि आध्यात्मिक उन्नतिही में लगे रहने के कारण भारत विदेशियों द्वारा चिर-काल से पददलित होता आया है और अब भी हो रहा है। अतएव यदि सभी भारतवासी चैतन्य, तुलसीदास और तुकाराम का अनुकरण करेंगे तो उनका सांसारिक बन्धन एक झटके में शीघ्र ही टूट जायगा और यह सारा देश ही दण्डकारण्य हो जायगा। फिर देश की उन्नति क्या होगी! इस लिए आध्यात्मिक और दैशिक उन्नति का पृथक् पृथक् विचार करना चाहिए था। देशोन्नति के लिए भी समुद्रयात्रा और कला-कौशल आदि का कहीं कहीं उल्लेख हुआ है; परन्तु उसकी मात्रा कम है और अन्य विषयों के बीच में आजाने से सब गड्ड बड्ड हो गया है।

हाडसन, काव्यल, कोलब्रुक और विल्सन आदि पाश्चात्य पण्डित शङ्कराचार्य्य का काल ईसा की आठवीं शताब्दी मानते हैं। परन्तु "धर्म्मविचार" के कर्ता को यह मत मान्य नहीं। आप शङ्कराचार्य्य को ईसा से कोई ५०० वर्ष पुराना बतलाते हैं और प्रमाण में द्वारका के शारदापीठ के एक पत्र का हवाला देते हैं। इस प्रमाण के याथार्थ्य की पोषकता में यदि कुछ और भी लिखा जाता तो अच्छा होता। क्योंकि, यों, उसका हवाला ही दे देने से लोग शङ्का कर सकते हैं, कि जिसने काशी और नवद्वीप के पण्डितों को अयथार्थवादी कहा, उसने शारदापीठ के पत्र को, बिना किसी विशेष प्रमाण के, कैसे विश्वसनीय समझा।

कुछ भी हो, "धर्म्मविचार" काम की पुस्तक है। इसके लिखने में पुस्तककर्ता ने अपने समय का सद्व्यय किया है, और बहुत सी बातें इसमें लोगों के जानने योग्य लिखी हैं। नये और पुराने दोनों प्रकार के विचारवाले इसे पढ़ कर लाभ उठा सकते हैं। जो कुछ इसमें है उसका इस लेख में हमने सिर्फ़ दिग्दर्शन कर दिया है। इसके विषय वादग्रस्त हैं और धार्म्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं। इस लिए सरस्वती में हम उनका खण्डन मण्डन नहीं कर सकते; दो एक बातों पर टिप्पणी करके ही हम उन्हें छोड़ते हैं। इस पुस्तक से पुस्तककर्ता के विचार बहुत स्पष्टता से पढ़नेवालों की समझ में आ जायँगे। और जब तक मनुष्य कुछ कहता, या लिखता नहीं, तब तक उसकी विद्वत्ता का ठीक ठीक पता भी नहीं लगता—

ता मर्द सख़न न गुफ़्ता बाशद
ऐबो हुनरश नहुफ़्ता बाशद।

"धर्म्मविचार" में कई जगह पर भाषासम्बन्धी दोष हैं। कहीं स्त्री लिङ्ग शब्द पुल्लिङ्ग हो गये हैं; और कहीं पुल्लिङ्ग शब्द स्त्रीलिङ्ग। "मोक्ष" शब्द स्त्रीलिङ्ग माना गया है। सकर्म्मक और अकर्म्मक क्रियाओं के प्रयोग में भी ग़लतियां हैं। इस पुस्तक का एक वाक्य सुनिए—

"ग्रन्थकर्ता ने भारतवर्ष व यूरुप का बहुत सा भाग देखा और हर प्रकार के विद्वानों से समय समय पर मिला"।

"समय समय पर मिला" कौन? "ग्रन्थकर्ता ने"! ऐसी अनेक त्रुटियां हैं। कहीं कर्ता है, कहीं हई नहीं। कहीं "जब" की जगह "जो" है; कहीं "तो" की जगह "तब"। विषय के अनुरोध से लेख विच्छेद भी ठीक ठीक नहीं हुआ; चार चार पाँच पाँच पन्ने तक एक ही पारा चला गया है। विराम-चिन्हों के रखने में भी बहुत बेपरवाही हुई है। बहुत से वाक्य पूर्ण विराम के चिन्ह तक से ख़ाली हैं। सामासिक शब्दों को इकट्ठा रखने की ओर तो भ्रूक्षेप तक नहीं किया गया, यहां तक कि टाइटिल पेज पर पुस्तक के नाम में "धर्म्म" और "विचार" के बीच एक अंगुल जगह छोड़ दी गई है। विद्वान् "ग्रन्थकार" की कृति में ये बातें खटकती हैं।

जिनको ज़रा भी विद्या, धन और जन आदि सम्पत्ति का अभिमान है; जिनमें ज़रा भी प्रभुत्व की वासना है; जिनको किसी प्रकार का कुछ भी गर्व है, उन पर भगवान् प्रसन्न नहीं होते। वे लोग उसकी अनन्य भक्ति को कभी नहीं पा सकते। यह इस पुस्तक में कई जगह पर लिखा है; और यह सर्वथा सत्य है। अतएव पुस्तक के ऊपर पुस्तकप्रणेता की विद्वत्ता, और अधिकार-सम्बन्धिनी प्रभुत्व-सूचक पदवियां जो छपी हैं वे न छपतीं तो कैसे? न छपने से विचार और व्यवहार की सङ्गति हो जाती।

एक बात और कहनी है। "धर्म्मविचार" में निष्काम कर्म्म को सर्वतोऽधिक प्रधानता दी गई है। गीता का प्रमाण देकर उस पर बहुत ज़ोर दिया गया है। परन्तु इस पुस्तक के बेठन पर—

"सर्व अधिकार ग्रन्थकर्ता के स्वतन्त्र"

इस वाक्य को देख कर हमें बड़ा ही आश्चर्य्य हुआ। अगर ये अधिकार प्रकाशक अथवा और कोई दूकानदार अपने अधीन रखता तो बात समझ में भी आ सकती थी; परन्तु निष्काम कर्म्म के उपदेशक को यह स्वत्वरक्षा बिलकुल शोभा नहीं देती।

यदि वे स्वयं भी निष्काम कर्म्म को कोई चीज़ समझते हैं; यदि परोपकार को भी व्यास के वचनानुसार वे पुण्य का हेतु मानते हैं; यदि धर्म्मसंस्कार द्वारा देशोन्नति करने के लिए उन्होंने सचमुच ही दीक्षा ली है,-तो उनको उचित था कि इस पुस्तक की क़ीमत चार आने भी न रखकर इसे वे मुफ़्त बाँटते। ईश्वर ने ऐसा करने के लिए उनको समर्थ भी किया है। यदि छपाई का ख़र्च निकालने की ज़रूरत ही समझी गई थी तो पुस्तक के अधिकारों की रजिस्टरी तो वे न कराते, जिसमें जो चाहता वह उसे छापकर उनके ईप्सित देशोद्धार के काम में सहायता करता। अस्तु नाम। अब हम इस समालोचना को कृष्णार्पण किये देते हैं; इसे जो चाहे छाप ले।

विनोद और आख्यायिका।

प्रुशिया के विख्यात राजा फ्रेडरिक दि ग्रेट के समय में वालटेर नामक एक प्रसिद्ध कवि और इतिहासकार था। वालटेर ने एक नवीन कविता लिखकर, एक दिन, राजा को बतलाई। राजा ने कहा कि आज शाम को यह कविता लेकर हमारे दरबार में आना; तब हम स्वस्थता से इसे सुनेंगे। यथासमय वालटेर उसे लेकर राजा के पास पहुँचा। वहां पहले ही से अनेक विद्वान् इकट्ठा थे। फ्रेडरिक ने वालटेर की कविता को बड़े प्रेम से सुना और उसकी बड़ी प्रशंसा की। परन्तु पीछे से उसने कहा कि यह कविता पुरानी जान पड़ती है वालटेर ने शपथ-पूर्वक कहा कि यह मेरी ही बनाई हुई है; इसके अन्तिम पद्य आज ही मैंने रचे हैं; आठ दिन पहले इसका नामो-निशान तक न था। इस पर फ्रेडरिक ने कहा कि मेरे यहां इँगलैण्ड से एक कवि आया है वह इस कविता को जानता है। वालटेर बोला ऐसा होना असम्भव है; मेरी यह कविता मेरे सिवा और किसीने देखो ही नहीं। तब फ्रेडरिक दि ग्रेट ने उस कवि को बुला भेजा। जब वह आया तब उससे राजाने पूछा कि क्या तुम अमुक अमुक विषय की अमुक अमुक कविता के सम्बन्ध में कुछ जानते हो? उसने कहा कि उसके सम्बन्ध में जानने को आप क्या पूछते हैं, मुझे वह कविता साद्यन्त कण्ठ है यह सुनकर वालटेर ने कुपित होकर उससे अपनी कविता का पहला पद्य पढ़ने के लिये कहा। उसने पहला ही नहीं; किन्तु सारी कविता पढ़कर सुना दी। इस प्रकार का तमाशा देख वालटेर आश्चर्य से चकित हो गया। उसने कहा यह मनुष्य का नहीं किन्तु किसी पिशाच का काम है। वालटेर को इस प्रकार कुपित लज्जित और घबराया हुआ देखकर फ्रेडरिक ने उसके आश्चर्य का निवारण इस प्रकार किया। उसने कहा यह कविता अवश्य नई है और अवश्य तुम्हारी ही बनाई है। इस समय मैंने इस कवि की विलक्षण स्मरणशक्ति की केवल परीक्षा ली है कुछ भी एक बार सुनने से इसे कण्ठस्थ हो जाता है। इसको परदे की आड़ में बिठलाकर मैंने तुमसे यह कविता पढ़वाई है। सुनते ही वह इसे कण्ठस्थ हो गई। यह सुनकर वालटेर के जी में जी आया। फ्रेडरिक ने वालटेर को पारितोषिक और प्रशंसा से प्रसन्न किया।



जापान के मिकाडो मत्स्यहितो ।

रूस के ज़ार निकोलस ।



सरस्वती

सचित्र मासिक पत्रिका।

१९०४

भाग ५] जून, १९०४ [संख्या ६

विविध विषय।



अकबर बहुत भारी कुटिल नीति से भरा हुआ बादशाह था। हिन्दू और मुसल्मानों के भेद भाव को कम करके उसने अपने राज्य को विशेष दृढ़ करने की सर्वतोऽधिक चेष्टा की थी। हिन्दुओं को अच्छे अच्छे ओहदों पर रख कर और हिन्दूनरेशों की राजकन्याओं का पाणिग्रहण करके ही वह सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह हिन्दू-नरेशों की जैसी पोशाक भी कभी कभी पहनता था और उस पोशाक में बाहर भी निकलता था। इस अङ्क के साथ अकबर का एक चित्र पाठकों को भेट किया जाता है। उसमें अकबर की पोशाक हिन्दू-राजाओं की जैसी है। आपके हाथ में जप-माला है। नहीं मालूम, आप क्या जप करते हैं; अथवा किसके ध्यान में हैं? आप परले दरजे के पारसा थे!

* *
*

अमेरिका में, इस समय, रुडियार्ड किपलिंग नामक अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि हैं; परन्तु खुद इंगलैंड में अँगरेज़ी का सर्व-मान्य कोई कवि नहीं है। विद्वानों का मत है कि जैसे जैसे सभ्यता, सद्विद्या और सज्ञानता की वृद्धि होती जाती है वैसेही वैसे कविताशक्ति का ह्रास होता जाता है। होमर वार्जिल, शेक्सपियर और कालिदास आदि विख्यात कवियों की बराबरी करनेवाले कवि अब कहीं नहीं पैदा होते। हां, जर्मनी में इस समय, एक बहुत प्रसिद्ध कवि हैं। उनका नाम फाल्व है। उनकी कविता-शक्ति बहुत विलक्षण है। उन्होंने कई काव्य लिखे हैं। उनकी कविता पर बहुत सन्तुष्ट होकर, जर्मनी के राजराजेश्वर ने, उनके लिए २२५० रुपये साल की पेनशन नियत कर दी है।

* *
*

बिजुली के द्वारा अनेक अद्भुत काम होते हैं। परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए बहुत झंझट भी करना पड़ता है और ख़र्च के साथ साथ परिश्रम भी बहुत पड़ता है। थोड़े परिश्रम और थोड़े ख़र्च से बहुत बिजली की शक्ति प्राप्त करने के लिए सैकड़ों विज्ञानी प्रयत्न कर रहे हैं। इन विज्ञानियों में से, अमेरिका में, चिगाको के निवासी आल्फ़्रेड ह्विटेन साहब भी एक हैं। वे, ऊपर, आकाश में, १५० मील से बिजुली नीचे लाने का यत्न कर रहे हैं। वे कहते हैं कि ऊपर आकाश की बिजुली बहुत स्वच्छ भी है और बहुत अधिक शक्ति भी रखती है। वायुमण्डल कुल १७ मील ऊपर है। उसके आगे तार के बंडल के बंडल अंतरिक्ष में फेंक दिये जावेंगे। वे वहां वैसेही स्थिर रहेंगे। वहां पृथ्वी की आकर्षण शक्ति न पहुँचैगी। इस लिये वे गिरेंगे नहीं। बिना किसी आधार के वे लटके रहेंगे। उन्हीं तारों के द्वारा बिजुली खींची जायगी। उनकी बातें सुनकर योरप और अमेरिका के विद्वान हँसते हैं और उन्हें पागल बतलाते हैं। परन्तु ह्विटेन साहब ने लोगों के हँसने का कुछ भी ख़याल न करके एक कम्पनी बना ली है। अपने कारख़ाने के लिए उन्होंने ज़मीन भी ले ली है और अपने यन्त्रों का 'पेटेण्ट' पाने के लिए दरख़ास्त भी करदी है। सब बातें ठीक हो जाने पर १५० मील ऊपर से १,४०,००० घोड़ों की शक्ति रखने वाली बिजुली ज़मीन पर उतारी जायगी !!!

***

जावा में एक बहुतही विलक्षण झील है। वह बहुत बड़ी है। उसके बीच की परिधि कोई दो मील है। उसमें यह विलक्षणता है कि, उसके बीच से गरम कीचड़ के बड़े बड़े स्तम्भ ऊपर को दूर तक उडा करते हैं और उड़ उड़ कर नीचे गिरते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि नीचे से कोई उनको बड़े वेग से उछाल रहा है। उसमें गरम कीचड़ के बड़े बड़े गोले से भी उठते हैं और कुछ दूर उठ कर फूट जाते हैं; उनके फूटने से बड़ा भयङ्कर शब्द होता है। ये भयावने शब्द सदैव हुआ ही करते हैं, जिन्हें सुनकर यह जान पड़ता है कि तोपों की बाढ़ दागी जा रही है और प्राणसंहारी गोले छूट रहे हैं।

***

डयूक आफ़ व्यस्टमिनिस्टर के पास दीवार में लगाने की एक घड़ी है। यह दुनिया भर की घड़ियों में सबसे अधिक क़ीमती है। डयूक ने लण्डन में एक महल बनवाया है। उसी महल में यह घड़ी लगी है। यह घड़ी अमूल्य है। इसकी क़ीमत ठीक ठीक नहीं जानी गई। परन्तु इसका अकेला प्यण्डयुलम (लटकन) ७,२०,००० रुपये का है! यह प्यण्डयुलम निखालस सोने का है। इसमे ४८ बेदाग़ हीरे जड़े हैं। एक एक हीरे का दाम १५,००० रुपया है। इस घड़ी में और भी अनेक रत्न जड़े हैं। इन रत्नों का मोल ३,००,००० से ४,५०,००० रुपये के बीच में है। इसकी प्रत्येक सूई में एक एक मनोहर पन्ना लगा है।

***

आधे से अधिक समुद्र की गहराई दो मील से ज़ियादह है। कहीं कहीं समुद्र चार से लेकर पांच मील तक गहरा है। पृथ्वी के समान समुद्र के भीतर की भूमि भी कहीं ऊँची और कहीं नीची है। सम नहीं है। द्वीपों में जो पर्वत हैं उन पर्वतों की कोई कोई चोटियां जितनी ऊंची दिखलाई देती हैं उससे वे बहुत अधिक ऊंची हैं। वे समुद्र के भीतर, उसके नीचे तक, चली गई हैं। प्रशान्त महासागर में मौनाकी (मैनाक) का ज्वालामुखी पर्वत जितना ऊंचा देख पड़ता है उससे वह दूना ऊंचा है। वह समुद्र के भीतर है। जहां वह है वहां की गहराई कोई तीन मील है। अमेरिका में जो सामुद्रिक तार हैं उससे सम्बन्ध रखनेवाले अधिकारियों ने पूर्वी प्रशान्त महासागर की थाह ली, तो जान पड़ा, कि कहीं कहीं वह ६ मील गहरा है! यदि किसी पहाड़ की सबसे ऊंची चोटी से, समुद्र में सबसे अधिक गहरी जगह तक लम्ब डाली जावे तो वह दस मील से अधिक

हो। इससे सिद्ध होता है कि कहीं कहीं समुद्र की गहराई से पृथ्वी की उंचाई बहुत कम है।

श्री गुरु हरिकृष्ण जी।

यद्यपि इनकी जीवनी बहुत छोटी है, पर वह भी विचित्रता से ख़ाली नहीं है। संवत् १७१३, सावन बदी १०, को माता किशन कुंवर के गर्भ से ये पैदा हुए और कार्तिक बदी १०, संवत् १७१८, को ठीक पांचवें वर्ष गद्दी पर बैठे। ऐसा कहा जाता है कि इस बाल्यावस्था में भी इनमें अद्भुत अद्भुत गुण थे। यह ऐसी ऐसी ज्ञान की बातें कहा करते थे कि सब लोग सुनकर चकित होते थे। साथ ही गद्दी का प्रबन्ध करने के लिए भी ईश्वर ने इस बाल्यावस्था ही में माना इन्हें कोई दैवी बुद्धि दे रक्खी थी। इनकी विचित्रता का वृत्तान्त सब ओर फैल गया और बड़ी दूर दूर के लोग इनके दर्शनों को आने लगे। शायद हमारे पाठक लोग हरिकृष्णजी की यें बातें मनगढ़त समझेंगे। इसलिए प्रार्थना है कि वे ज़रा अनुमान करलें कि मानों गुरु हरिकृष्ण जी उनके सामने बैठे कह रहे हैं—

> ना जीनीहि वयं बाला देही देहेषु शाश्वतः।
> जरा-यौवन-जन्माद्या धर्म्मा देहस्य नात्मनः॥

अर्थात् हमको बालक मत समझिए। देही सदैव देह में रहता है। बुढ़ाई, जवानी, जन्म आदि देह के धर्म्म हैं; आत्मा के नहीं।

अस्तु, योंही हमारे बालक गुरु हरिकृष्ण जी शिष्यों को भक्तिज्ञान की कथा सुना कर चकित और तृप्त करने लगे। जब रामराय ने, जो लाहोर को निकाल दिया गया था, यह सब हाल सुना तब उसके दिल में ईर्षा की अग्नि भड़क उठी और उसने दिल्ली जाकर औरङ्गज़ेब के दर्बार में हाज़िर हो अर्ज़ किया कि "हुज़ूर, हमारे पिता हरिराय जी के सुरलोक सिधार जाने से उनके प्रधान प्रधान शिष्यों ने उनके दूसरे पुत्र हरिकृष्ण जी को, जिनकी उमर केवल पांच वर्ष की है, गुरु की गद्दी पर बैठा दिया है और मुझे ग्राम से निकाल कर मन मानी लूट मचा रहे हैं। हरिकृष्ण जी बालक होने के कारण इतनी बुद्धि नहीं रखते कि गुरुआई की गद्दी का प्रबन्ध कर सकें। मैं गद्दी का वाजबी हक़दार हूं, इसलिए आप हम दोनों की अवस्था जांच कर उचित आज्ञा दीजिए"। औरङ्गज़ेब ने रामराय को दिल्ली ही में रहने की आज्ञा देकर अम्बर के राजा सवाई जयसिंह को हरिकृष्ण जी को साथ लिवालाने के लिए भेजा। अस्तु, जब राजा जयसिंह ने गोइन्दवाल पहुंच कर हरिकृष्ण जी को बादशाही आज्ञा सुनाई तब वह बड़ी ख़ुशी से राजा साहब के साथ हो लिये। जयसिंह भी हरिकृष्ण जी की विचित्रता देख चकित हो गया और उनके ज्ञान की कथाओं ने तो उसे मन्त्रमुग्ध सा कर दिया। वह हरिकृष्ण जी को सम्मान की दृष्टि से देखने लगा और बड़ी ख़ातिरदारी से उन्हें अपने सामने हाथी पर बैठा कर दिल्ली ले चला। बालक गुरु के साथ हज़ारों सिक्ख हो गये, पर पञ्जोकरा नामक ग्राम में पहुंच कर हरिकृष्ण जी ने सबको बिदा कर दिया और केवल थोड़े से शरीर-रक्षक साथ रख लिये। जब हरिकृष्ण जी कुरुक्षेत्र पहुंचे तब वहां बहुत से लोग इनके दर्शन को आये, जिनमें एक संस्कृतज्ञ पण्डित जी भी थे। इनका नाम लाल जी था। इन्होंने हरिकृष्णजी की परीक्षा लेनी चाही और इनसे गीता के कई श्लोकों का अर्थ पूछा, जिसपर हरिकृष्ण जी ने अपने सेवक छज्जू कहार की ओर इशारा किया। उसने ऐसी सुन्दरता से गीता के अर्थ कहे कि पण्डित जी दङ्ग हो गये, और जब उन्हें मालूम हुआ कि हरिकृष्णजी का यह शिष्य शूद्र है, तब तो उनकी लज्जा का ठिकाना नहीं रहा।

इसके बाद कुरुक्षेत्र से रवाना होकर गुरु हरिकृष्णजी दिल्ली जा पहुंचे। राजा जयसिंह ने

बड़ी ख़ातिरदारी से इन्हें अपने महल में ठहराया। जब जयसिंह की रानी ने पति से हरिकृष्णजी का माहात्म्य सुना तब वह दौड़ी हुई इनके दर्शन के आईं। सामने आते ही हमारे बालक चरित्र-नायक जयसिंह की रानी की गोद में जा बैठे। वह प्रेम से गद्गद हो गईं और इसके बाद उन्हें भोजन आदि कराकर बड़े प्रेम से अपने पास रक्खा। जब बादशाह ने इन्हें दरबार में बुलाया तब इन्होंने न जाने क्या सोच कर बादशाह से मुलाक़ात न करने की प्रतिज्ञा की और जयसिंह की स्त्री से बोले कि "बस, अब मेरा समय आ गया। संसार में मुझे जो काम करना था वह पूरा हो चुका। काल-पुरुष तुम्हारा मंगल करे।" इतना कह कर वे वहीं ज़मीन पर लेट गये और उन्हें बड़े ज़ोर का बुख़ार आ गया। साथही बड़े ज़ोर शोर से शीतला भी निकल आईं और दो ही दिन बाद हरिकृष्ण जी के बालक शरीर की ज्ञानी आत्मा सुरलोक सिधार गई। बादशाह के दिल में गुरु हरिकृष्णजी से मिलने की लालसा ही रह गई और जयसिंह की रानी को जो मर्मान्त कष्ट हुआ उसका उल्लेख करना हमारी लेखनी के बाहर है।

तरुणी तू चल बसी अभी।

[अँगरेज़ी कवि बाइरन की "And thou art dead as young and fair" नामक कविता का भावार्थ]

[१]



तरुणी तू चल बसी अभी से
स्वर्गलोक को सुकुमारी;
अति विकराल काल की गति है
इस जग में सब से न्यारी।
तुझ सम अति सुन्दर, सुशीलवर
रूपवती, शोभा की खान,
नहीं और जग में मैं देखूं,
देखा मैंने करके ध्यान॥

यद्यपि इस पृथ्वी ने तुझ को निज शरीर में किया विलीन,
तेरी देह-भस्म पर यद्यपि पथिक चलैं मतिमन्द मलीन;
तद्यपि तेरी अन्तिम शय्या अवलोकन को हे प्यारी!
उठती नहीं आँख यह मेरी, सच कहता हूं सुकुमारी!

[२]

नहीं प्रयोजन मुझको तूने कहां किया अन्तिम विश्राम;
क्या करना है मुझे देख कर तेरा वह समाधि का धाम।
तेरी देह-धूलि पर चाहे घास उगैं या उपजैं फूल;
दुर्लभ है अब तू हे मेरी सुखमय-ललित-लता की मूल॥
ज्ञान इस विषय का हे रमणी! इतना बस है निःसन्देह;
कि मिल गया मिट्टी में वह तनु जिससे मुझ को था अति नेह।
नहीं समाधि-शिला आवश्यक बतलाने को तेरा स्थान;
सकल सृष्टि में देख रहा हूं मैं तुझको हे जीवन-प्रान॥

[३]

मेरी तुझ पर प्रीति अलौकिक, तेरा वैसाही व्यवहार;
हम दोनों में, इस विपत्ति तक, रहा एकसा प्रेम-प्रकार।
उस दिन तक हे स्वर्गवासिनी! साधा तूने अपना नेम;
शक्ति नहीं है कर में तेरे अब कम करने को वह प्रेम॥
वह अनुराग अखण्डित जिस पर यम ने गाँठ लगाई है;
ईषा, आयु, झूठ आदिक की उस तक नहीं रसाई है।
मेरे मन के भाव हाय अब जान नहीं तू पाती है;
सोच सोच यह प्रबल दुःख की ज्वाला मुझे जलाती है॥

[४]

परमानन्द-युक्त हम दोनों ने दिन बहुत बिताये हैं;
मुझ अभाग्यशाली के हा हा बुरे दिवस अब आये हैं।
सूर्योदय को अवलोकन कर, अथवा देख घिरा तूफान;
नहीं हर्ष होगा अब मुझको, होगा नहीं दुःख का ज्ञान॥
स्वप्नहीन वह नींद हृदय में शोकानल धधकाती है;
आँख उसे शीतल करने को अश्रुधार बरसाती है।
अच्छा हुआ सुन्दरी! तेरी सुन्दर देह हुई निःशेष;
देख जरा से जीर्ण, नहीं तो, होता मुझको दुःख विशेष॥

[५]

नूतन खिला फूल, सौरभमय, सुन्दर, मन हरनेवाला;
सब से प्रथम चुना जाता है वही बनाने को माला।

यदि उसकी विलोक सुघराई छोड़ उसे जन देते है;
क्रम क्रम से उसके मंजुल दल ख़बर भूमि की लेते हैं ॥
माना शोचनीय है उसकी नव यौवन में चुनवाई;
सूख सूख उसके दल गिरना–दृश्य है अधिक दुखदाई।
स्वच्छ वस्तु को मालीन देखने से होता है क्लेश महान;
लौकिक रीति यही है; इसमें काम नहीं कुछ आता ज्ञान ॥

[६]

कैसे होता सहन मुझे उस रम्यरूप का मुरझाना;
कर सकता मैं नहीं दशा का अपनी कुछ भी अनुमाना।
इन्दुमुखी! जिस दिन इस जगसे बिदा हुई तू हे बाला;
मुझ को उस निशि में हे प्यारी! हुआ और भी अँधियाला॥
जब तक जीती रही न तुझ पर छाया दुखबादल का लेश;
अन्त समय तक मनोहारिणी रही सुन्दरी तू निःशेष।
जैसे नभ से गिर कर तारा शोभित होता है अत्यन्त;
वैसे अस्त हुआ तनु तेरा सुन्दरता-संयुक्त अनन्त ॥

[७]

केवल एक रात को ईश्वर देता यदि मुझ को अधिकार;
जग कर अपने इन नयनों से ख़ूब बहाता आंसू धार।
तेरे निकट न होनें का जब ध्यान चित्त में आता है;
मेरा यह अति कड़ा कलेजा टूक टूक हो जाता है।
यदि मिलती तो शीश उठा कर हृदय लगाकर तेरी देह;
तुझ को दिखलाता मैं प्यारी! अपना वह अति अद्भुत नेह।
रूपराशि अवलोकन करके होता मैं कृतकृत्य विशेष;
न तू और मैं भी न, हाय अब पा सकते उस सुख का लेश ॥

[८]

खण्डन कर सम्बन्ध लोक से तूने किया मुझे स्वाधीन;
पा सकता हूं वह पदार्थ मैं जिसमें हो मेरा मनलीन।
पर अति विमल वस्तु पाकर भी लाभ नहीं होगा इतना;
तव स्मरण में मुझे हुआ है यह कविता लिखकर जितना॥
मरण न मेरे मन से तेरा स्मरण कदापि भुलावेगा;
इस प्रेमी को अमर प्रेमही तेरा, सदा जिलावेगा।
सुमिरण तेरी रूप-राशि का करता है मुझ को बेचैन;
नहीं काल से कुछ वश अपना; रोता रहता हूं दिन रैन॥

गौरीदत्त वाजपेयी।

मालविका और अग्निमित्र।

[महाकवि श्रीकालिदास के नाटक की आख्यायिका।

[१]



विदिशा नगरी के प्रतापशाली महाराज की दो रानियां थीं, जिनमें प्रधाना महिषी का नाम धारिणी और दूसरी का इरावती था। बड़ी रानी की चार चेरियाँ * थीं—कुमुदिका, वकुलावलिका, समाहितिका और मधुकरिका; और छोटी रानी की केवल एक निपुणिका।

एक दिन तीसरे पहर के समय विदिशा-राज-मन्दिर के अन्तःपुरवर्ती उद्यान में महारानी धारिणी की चेरी कुमुदिका नागमुद्रावाली अंगूठी लिये एक ओर को जारही थी और दूसरी ओर से वकुलावलिका आरही थी। कुमुदिका उस अंगूठी को ऐसे ग़ौर से देख रही थी कि उसने अपने सामने से आती हुई वकुलावलिका को न देखा, और वकुलावलिका ने उसे ताना देकर कहा–

"वाहरी कुमुदिका! तू ऐसे ग़ौर से क्या देख रही है जो मुझे सामने से आती हुई भी नहीं देखती?"

यह सुन और उसको ओर देख, मुसकुराकर कुमुदिका ने कहा–"वाह सखी! वाह! तू भले मिली; देख तो सही यह कैसी सुन्दर अंगूठी है।"

वकुलावलिका ने उस नागमुद्रा को ध्यानपूर्वक देखकर कहा–"वाह वाह! यह तो बड़ी ही सुन्दर अंगूठी है, जिसके नग की किरणें ऐसी फैल रही हैं, जैसे हाथ में फूल खिले हों।"

कुमुदिका—"तू कहाँ जाती है?"

---

* संस्कृत नाट्य शास्त्र में चेरी (चेटी) उसे कहते हैं जो सखी का अधिकार रखती हो। (नीचां चेटीं सखीत्यतीत्यमरः)।

बकुलावलिका—"बड़ी महारानी ने मुझे कलाधर गणदास के पास इसलिए भेजा है कि मैं उनसे जाकर यह पूछूं कि मालविका ने अबतक कला सीखने में कितनी योग्यता पाई है"।

कुमुदिका—"क्यों सखी, मालविका तो नाट्य-विद्या सीखने के बहाने राजमन्दिर से हटा दी गई है, तो फिर महाराज ने उसे कैसे देख लिया ?"

बकुलावलिका—"सुन, जब महारानी धारिणी मालविका के चित्र को चित्रशाला में उस चितेरे के हाथ से लेकर जिसने उसका चित्र बनाया था, देख रही थीं, तब उसी समय महाराज एकाएक वहां पहुंच गये और उन्होंने उसी चित्रमें मालविका की अपूर्व छटा देख उसे अपना मन भेंट कर दिया। इस रहस्य को जानते ही महारानी ने मालविका को गणदास की नाट्यशाला में इसलिये कला सीखने के बहाने भेज दिया कि जिसमें महाराज की दृष्टि चित्र ही की भांति उस साक्षात् सौन्दर्य-मूर्ति पर पड़कर बिलकुल बेहाथ न हो जाय, क्योंकि महारानी से उसी समय पूछा था कि यह त्रैलोक्यमोहिनी सुन्दरी कौन है'?

कुमुदिका—"इसपर महारानी ने क्या उत्तर देकर महाराज को धोखे में डाला"?

बकुलावलिका—"इसपर महारानी धारिणी तो बात उड़ाया ही चाहती थीं, किन्तु कुमारी बसुलक्ष्मी ने लड़कपन के कारण कह ही तो दिया कि यह तो मालविका है। आख़िर अभी वह बच्ची ही तो है। इसके उपरान्त धारिणी ने कुछ न कहा, और महाराज ने भी उनका आन्तरिक भाव समझ कर उनसे फिर कुछ न पूछा। फिर तो महारानी मालविका के छिपाने का प्रयत्न करने लगीं और महाराज चुपके चुपके उससे मिलनेका।"

इतना सुनकर कुमुदिका एक ओर और बकुलावलिका गणदास की नाट्यशाला की ओर चली गई।

कुमुदिका महारानी की प्यारी चेरी ही थी, इसलिए उसके हाथ में महारानी की अंगूठी रहना कोई आश्चर्य नहीं।

जिस समय कलाकुशल गणदास नाट्यशाला में मालविका को सङ्गीत की शिक्षा दे रहे थे, बकुलावलिका वहां पहुंची और उन्हें प्रणाम करके बोली,—"गुरुजी महाराज! महारानी जी ने पूछा है कि आपकी चेली मालविका ने नाटक विद्या कहां तक सीखी है।

गणदास ने कहा—"पुत्री! महारानी से कह दीजिये कि मालविका नाट्य और सङ्गीतविद्या में परम निपुण हो गई है। यदि वे चाहें तो प्रकाश्य-रीति से हमारे गुण और मालविका की शिक्षा की परीक्षा कर सकती हैं; क्योंकि ऐसा होनेंही पर हम पूरे पारितोषिक पाने के अधिकारी होंगे"?

बकुलावलिका—"महाराज! आपकी चेली धन्य है, जिसकी विद्या, बुद्धि, गुण और कला-कुशलता की आप स्वयं अपने मुख से इतनी बड़ाई करते हैं।"

गणदास—"किन्तु अभी तक हमें यह ठीक नहीं मालूम हुआ कि जिस बुद्धिशालिनी लड़की को हम शिक्षा दे रहे हैं वह वस्तुतः है कौन? क्योंकि बहुत पूछने पर भी यह (मालविका) अपने विषय में कुछ भी नहीं बतलाती; बल्कि दो बूंद आँसू डाल तथा लम्बी साँस लेकर चुप रह जाती है।"

बकुलावलिका—"गुरुजी! अपने विषय में मालविका क्यों चुप है और कुछ नहीं कहती, या कहना चाहती, इसे मैं नहीं कह सकती; किन्तु इतना तो मैं अवश्य जानती हूं, कि महारानी धारिणी के एक भाई वीरसेन हैं; वे आज कल महाराज की ओर से नर्मदा के किनारे अन्तपालगढ़ में रहते हैं; उन्होंने इस (मालविका) को कला सीखने के लिए महारानी के पास भेजा है।"

गणदास—"जो कुछ हो, किन्तु इस बात को हम ज़ोर देकर कह सकते हैं कि चाहे मालविका किसी कारण से अपने विषय में कुछ न कहे, किन्तु यह किसी सामान्य घराने की लड़की प्रतीत

नहीं होती; जैसा कि इसके रूप, गुण, स्वभाव और सुशीलता से प्रगट होता है।"

इसके अनन्तर फिर वकुलावलिका ने निराले में थोड़ी देर तक मालविका से कुछ बातें कीं और उससे विदा होकर राजमन्दिर की ओर उसने पैर बढ़ाया।

[२]

समय वसन्त ऋतु के प्रातःकाल का है। सूर्य नारायण पूर्व दिशा में दो तीन हाथ के लगभग ऊंचे उठ आए हैं। और महाराज अग्निमित्र प्रातः-कृत्य समाप्त करके अपनी सभा में सुशोभित हैं। चारों ओर अपने अपने उचित आसनों पर राज-कर्मचारी गण बैठे हुए मन लगा कर अपने अपने कामों को कर रहे हैं; और महाराज के दाहिने राजमन्त्री बैठे हुए एक एक करके अपनी प्रिय प्रजाओं की अर्ज़ियां पेश कर रहे हैं।

महाराज ने कहा—मंत्रिवर! विदर्भ का राजा अपने पत्र में क्या लिखता है?

मंत्री—क्या लिखेगा। अपना सर्वनाश!!!

महाराज—अच्छा, ज़रा उसकी चिट्ठी तो पढ़िये।

मंत्री—सुनिये। वह यों लिखता है कि, "आपकी आज्ञा है कि हमारे मित्र कुमार माधवसेन हमारे साथ सम्बन्ध करने के लिए हमारे समीप आते थे। उन्हें मार्ग में सोमा के रक्षकों ने पकड़ लिया है। इस लिए हम चाहते हैं कि वे अपनी स्त्री और बहिन समेत छोड़ दिये जायँ। आप जानते हैं कि अपने बराबर वाले राजाओं को कैसा बर्ताव करना चाहिए, इस लिए आपको उचित है कि आप पक्षपात कभी न करें। सुनिए। माधवसेन की बहिन का क्या हुआ; या वह कहां चली गई, यह हम नहीं जानते; किन्तु हम उसके ढूंढने का प्रयत्न करेंगे। हाँ, आप माधवसेन को हम से इस शर्त पर छुड़ा सकते हैं कि उनके बदले में आप हमारे साले को, जो आपके यहां क़ैद हैं, छोड़ दें।" सुना आपने न। कहिए, उस दुष्ट ने कैसे ढंग से पत्र लिखा है।

महाराज—तो क्या वह दुष्ट यही चाहता है कि काम के बदले काम ले। मंत्रिवर, वह (विदर्भ-राज) हमारा पुराना वैरी है और हमसे बराबरी का दावा रखता है। इस लिए सेनापति वीरसेन को आज्ञा दो कि वे एक महती सेना लेकर जायं और विदर्भ के उस अभिमानी राजा को जड़ से खोद कर फेंक दें। कहिए इसमें आपकी क्या सम्मति है?

मंत्री—"आपका कहना बहुत ही उचित है। क्योंकि छोटे से भी शत्रु की उपेक्षा करना या उसे छोड़ देना राजनीति के विरुद्ध है। इस लिए शीघ्र ही सेना सहित वीरसेन के भेजने का प्रबन्ध कर दिया जायगा"।

इसके अनन्तर और भी बहुत से आवश्यक कार्य हुए और मध्यान्ह होने पर मध्यान्हिकी संध्या करने के लिए महाराज उठे और सभा भंग हुई।

[३]

समय तीसरे पहर का है। महाराज अग्निमित्र अपने विश्रामगृह में गद्दी पर तकिये के सहारे कुछ लेटे हुए से हैं; और उनका मुहलगा मुसाहब गौतम उनके सामने बैठा हुआ है। महाराज ने ठंढोसांस भर कर कहा "क्योंजी, उस विषय में तुम्हारी बुद्धि ने कुछ काम किया?"

विदूषक—"सिद्धि है।"

महाराज—"क्योंकर?"

इस पर उसने झुककर महाराज के कान में कुछ कहा, जिसे सुन वे बहुत ही प्रसन्न हुए और बोले,—"यदि यह बात सच है और तुमने यों अपने को उद्योग की पहली सीढ़ी तक पहुंचा दिया है, तो हम समझते हैं कि उस सिद्धि के फल की प्राप्ति में विशेष विलम्ब न लगेगा। किन्तु महारानी भी बेफ़िक्र नहीं होंगी; इसका भी तुम ध्यान रखना।"

इतने में मौद्गल्य नामक द्वारपाल ने आकर प्रणाम किया और कहा कि—"मंत्री जी ने श्रीमान् से यह निवेदन किया है कि श्रीमान् की उस आज्ञा

का पालन सुन्दर रीति से कर दिया गया; और दस सहस्र सेना के सहित सेनापति वीरसेन विदर्भ-नगर पर चढ़ाई करने के लिए विदा किये गये।"

महाराज–(प्रसन्नता से) "मंत्रिवर को हमारी ओर से इस कार्य-तत्परता के लिए धन्यवाद दो। (ठहरकर) और देखो तो सही, बाहर यह कैसा कोलाहल है?"

इतना सुनकर द्वारपाल सिर झुका कर बाहर चला गया और तुरंत ही लौट आया और निवेदन किया–"महाराज की जय हो, नाट्याचार्य हरदत्त और गणदास आपस में झगड़ते हुए श्रीमान् की सेवा में उपस्थित हुआ चाहते हैं और इस बात का निर्णय कराया चाहते हैं कि हम दोनों में विशेष कला-कुशल कौन है"।

महाराज–"अच्छा, उन लोगों को आने दो।"

यह सुन और सिर नवाकर द्वारपाल ने बाहर जा उन दोनों आचार्यों को महाराज के समीप पहुंचाया और वे दोनों भी महाराज को आशीर्वाद दे कर उचित आसनों पर बैठ गये।

महाराज–"आप लोगों में किस बात पर परस्पर विवाद उपस्थित हुआ है?"

गणदास–"महाराज! उसी पर; अर्थात् जिस पर कि विद्वान् लोग प्रायः आपस में झगड़ा किया करते हैं। यद्यपि हमारी इच्छा यह कदापि नहीं थी कि हम किसीसे झगड़ा करें; किन्तु इन्हों-(हरदत्त) ने बरबस हमें छेड़ा; और टंटा बिसाहा। इस लिए अब हम यह चाहते हैं कि हम दोनों के गुणों की एक बार परीक्षा लेकर आप इस बात का निर्णय कर दें, कि सचमुच हम दोनों में श्रेष्ठ कौन है। और नाट्याचार्य की पदवी का वास्तविक अधिकारी कौन कहा जा सकता है।"

उन दोनों कलामतों में महाराज अग्निमित्र हरदत्त के विशेष पक्षपाती थे; और महारानी धारिणी गणदास की। बहुत काल से ये दोनों, राजदरबार में, आपस में मिलजुल कर रहते थे; पर इधर ये दोनों परस्पर क्यों लड़ गये और विवाद करते हुए महाराज के सामने आये, इसमें जो रहस्य है उसे हम आगे चलकर प्रगट करेंगे।

महाराज ने कहा–"गणदास! यद्यपि हमारा पक्ष हरदत्त पर विशेष है; और महारानी का तुम पर; तथापि हम यह चाहते हैं, कि आज तुम दोनों के विवाद का झगड़ा तय हो जाय। किन्तु यह तभी हो सकता है जब महारानी भी उपस्थित रहें; क्योंकि ऐसा न होने से यदि तुम हारे तो महारानी के चित्त में हमारे पक्षपात का काँटा खटकता ही रह जायगा। इस लिए (द्वारपाल को पुकार कर) कंचुकी! अंतःपुर में जाकर महारानी से हमारी ओर से विनय करो कि, वे कृपा कर यहां तक पधारें जिसमें इन दोनों झगड़ालुओं का झगड़ा उनके सामने ही तय कर दिया जाय।"

यह सुन कर द्वारपाल अंतःपुर की ओर चला गया। थोड़ी ही देर में महारानी धारिणी, योगिनी कौशिकी के साथ वहाँ पहुंच गई; और महाराज ने योगिनी को प्रणाम करके अपने दाहिनी ओर आसन दिया और महारानी को बांई ओर।

धारिणी–(महाराज की ओर देखकर), मैंने सुना है कि आपने इन लोगों के किसी झगड़े को निपटाने के लिए मुझे याद किया है; किन्तु मैं इन कलामतों के झगडे में अपने को उलझाना नहीं चाहती, और यही अच्छा समझती हूं कि ये लोग आपस में ही निपट कर अपना अपना मन भरलें"। इस पर योगिनी ने कहा—"महारानी, आप इतनी अधीर क्यों हुई जाती हैं? निश्चय जानिए, कि आपका दयापात्र गणदास विवाद में हरदत्त से कभी न हारेगा।"

इस पर महाराज ने कहा–"हम इस बात को तब तक स्वीकार नहीं कर सकते जब तक कि इन दोनों के गुणों को अपनी आंखों से न देखलें।"

गौतम ने कहा–"बेशक, ऐसा तो होनाही चाहिए"।

इन लोगों के इतने आग्रह का जो कुछ हेतु था वह महारानी धारिणी के कलेजे में काँटे की तरह चुभ रहा था। पर वे बेचारी क्या करतीं, वे लाचार थीं। चाहा तो उन्होंने बहुत कुछ कि यह बखेड़ा



अकबरशाह

आगे न बढ़ने पावे; किन्तु ऐसा वे न कर सकीं; और अंत में आगत्या उन्हें यही कहना पड़ा कि, जब सब लोगों की यही इच्छा है, तब इस विषय में अब मैं विशेष कुछ नहीं कहा चाहती। अतः अब जो महाराज की इच्छा हो सो वे करें।

किन्तु हम कह सकते हैं कि यह संमति महारानी धारिणी ने अपने कलेजे पर पत्थर रखकर ही दी होगी; क्योंकि इस प्रकार सम्मति देने का जो कुछ परिणाम होनेवाला होगा उसे भी वे भली भांति समझ गई होंगी। अस्तु क्या किया जाता, वह मौक़ा ही ऐसा था कि लाचार उन्हें वह स्वीकार करना ही पड़ा।

यद्यपि महारानी धारिणी का चित्त इस प्रपंच से दूर रहना चाहता था पर बेबसी थी। लेकिन महाराज की तो मनचीतीही हुई; उन्होंने गणदास की ओर देख कर कहा—"रंगशाला में जाकर तुम लोग अभिनय की तय्यारी करो; हम लोग भी तुरंत मृदंग की गमक सुन आ पहुंचते हैं"।

यह सुन कर वे दोनों कलामत नाट्यशाला की ओर चले और महारानी धारिणी ने मुसकुराकर महाराज से कहा, "आर्यपुत्र, आज क्या है जो इतनी मुस्तैदी आप दिखला रहे हैं? यदि इसी प्रकार आप इतनी चतुराई राजकाज में दिखाते तो कहिए, यह सोने में सुगन्ध न कहा जाता?"

यह सुन कर महाराज ने मुसकुरा कर कहा "प्रिये! तुम्हारा ध्यान कदाचित् इस समय किसी और तरफ़ गया है; सो तुम ऐसा ख्याल न करो; हमने तो केवल उन लड़ाकों की लड़ाई तय करने ही के लिए यह रचना रची है।

इतने ही में संगीतशाला से मृदंग की ध्वनि सुनाई दी, जिसे सुन योगिनी कौशिकी ने कहा—"तो अब विलम्ब क्यों? देखिये, संगीत भी आरम्भ हो गया। अतः अब वहां चलना ही चाहिए।"

[४]

रंगशाला में जाकर जब महाराज, महारानी, योगिनी, गौतम आदि यथोचित आसनों पर बैठ गये तब योगिनी ने कहा "महाराज, यद्यपि गणदास और हरदत्त अपने अपने गुणों में अपना जोड़ नहीं रखते, तथापि मैं चाहती हूं कि पहले गणदास के गुणों की परीक्षा ली जाय, और वह परीक्षा इसी प्रकार हो सकती है कि गणदास अपने किसी परम निपुण शिष्य का अभिनय दिखाकर अपनी पूर्ण विद्या का परिचय दें; क्योंकि नाट्यविद्या के गुण-दोषों का निर्णय उसके प्रयोग के देखने ही पर हो सकता है, न कि तर्कशास्त्र की भांति कोरी बकबाद से।"

कौशिकी के ये वचन महारानी धारिणी के कलेजे में तीर से लगे और उन्होंने अपने मन में यह समझ लिया कि यह योगिनी बेशक बड़ी ही खोटी है; पर प्रकट में उन्होंने कुछ न कहा। किन्तु योगिनी की बातें सुन गौतम ने कहा, "गणदास, तुमने सुना न, योगिनी जी क्या आज्ञा देती हैं? बस, वैसाही करो और देखो, प्रयोग दिखलानेवाले अभिनेता लोग अपने शृंगार को उतारकर केवल साधारण वेष में आवें। क्योंकि शरीर का सच्चा भूषण सौन्दर्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

इस पर महाराज ने कहा, "हम भी ऐसा ही उचित समझते हैं।"

धारिणी ने कुढ़ कर कहा—"इस निगोड़े बह्मना ने ही यह सारा प्रपंच फैला रक्खा है।"

अस्तु, गणदास ने नाट्यशाला का परदा उठाया और महाराज की आंखों के सामने एक वह अपूर्व सौन्दर्य की प्रतिमा झलकने लगी कि जिसकी उपमा स्थिर सौदामिनी से दी जा सकती है कि नहीं, इसमें संदेह है। महाराज तो उसके रूपसागर में डूब गये और वह अभिनेत्री भी महाराज को कनखियों से देख देख अपने हृदय की मचलाहट प्रगट करने लगी। योगिनी और गौतम आपस में देखाभाली करके मुसकुराने लगे और महारानी धारिणी ने अपने कलेजे पर हाथ धर कर अपना करम ठोंका।

गणदास ने कहा—"महाराज, शर्मिष्ठा ने अपने पूर्वानुराग को ययाति पर जिस भांति प्रगट किया था, उसीका प्रयोग आप ध्यान देकर देखें।"

इसके अनंतर उस अभिनेत्री ने, कि जिसका नाम मालविका था, और जिसे महाराज की आंखों से छिपाई जाने ही के लिये महारानी धारिणी ने गणदास के हवाले किया था, शर्मिष्ठा के पूर्वानुराग के अभिनय को इस उत्तमता के साथ संगीत के स्वर में गाकर दिखलाया कि महाराज अग्निमित्र का जी पानी पानी हो गया; और महारानी धारिणी के चित्त की क्या दशा हुई इसे वेही कह सकती हैं।

यहां हम अपने पाठकों पर यह बात प्रगट कर देना उचित समझते हैं कि जब महाराज ने चित्र में मालविका को देख कर उसके विषय में धारिणी से कुछ उत्तर न पाया और महाराज की मालविका पर आशक्ति देख महारानी धारिणी ने उसे गणदास के हवाले किया, तब महाराज ने गौतम द्वारा मालविका को देखने के लिए उपाय रचे।

हम पहले कह आये हैं कि गौतम ने महाराज से किसी 'सिद्धि' के विषय में उनके कान में कुछ कहा था। वह क्या कहा था? यही कि उसने कौशिकी और गणदास को अपने मत में लाकर बरबस हरदत्त के साथ गणदास को लड़ा दिया और उस लड़ाई से यह परिणाम निकाला कि इन दोनों के लड़ाई का निपटारा इन दोनों के शिष्यों के प्रयोग पर किया जाय। अंत में यही हुआ भी; अर्थात् उसने निश्चय कर लिया था कि हमारी इस दुरभिसंधि को महारानी धारिणी भी न समझ सकेंगी; और महाराज अनायास ही मालविका की रूपछटा से अपने प्यासे नेत्रों को तृप्त करेंगे। सो गौतम का सोचा हुआ प्रबन्ध ठीक हो तो गया; पर महारानी धारिणी ने मनही मन समझ लिया कि यह सारा बखेड़ा इसी बखेड़िया ब्राह्मण का खड़ा किया हुआ है।

निदान उस अभिनय का यही परिणाम हुआ कि महाराज ने अपने मन को माल्विका के हाथ और मालविका ने अपने चुटीले चित्त को महाराज के हाथ बिना मोल ही बेच डाला, और वे दोनों परस्पर बे-मन के हो मन ही मन मसोस कर रह गये। प्रयोजन तो इतने ही से था; पर अभिनय की क्रिया समाप्त होने पर भी जब मालविका महाराज के सामने कठ-पुतली सी खड़ी की खड़ी ही रह गई; तब धारिणी से यह बात सही न गई और उन्होंने व्यङ्गपूर्वक गणदास से कहा—"क्या यह भी अभिनय का कोई अंग है कि पात्र अपना कतैव दिखाकर भी नेपथ्य में न जाय, अथवा जाने की इच्छा न करे?"

यह हक़ीक़त में एक ऐसी चुटीली बात थी कि जिसने वहां पर बैठे हुए सभी पुरुषों को चौंका दिया। तब गणदास के इशारे पर मन मसोस कर मालविका नेपथ्य की ओर चली; पर जाते जाते भी उसने फिर फिर कर कई बार महाराज की ओर उदास एवं प्यासे नयनों से निहारा, जिसे संपूर्ण दर्शकवृन्दों ने भली भांति देख लिया।

इस प्रकार अभिनय समाप्त हुआ और महाराज ने अपने कृपापात्र हरदत्त की ओर देखकर कहा, "सुनो हरदत्त, आज बहुत विलम्ब हो गया है; इस लिए तुम्हारा प्रयोग किसी और दिन देखा जायगा।"

इस पर हरदत्त ने सिर झुकाकर राजाज्ञा अपने मांथे चढ़ाई और सभी पुरुषों ने महाराज के इस कथन का अ्नुमोदन किया। पर महारानी ने ताने के मिस यों कहा कि—"बेचारे हरदत्त का प्रयोग तो तब न देखा जाता, जब उसके पास भी कोई मालविका होती!"

इसके अनन्तर सभा विसर्जित हुई; और सब लोग अपने अपने स्थान को लौटे। इधर अंतःपुर में आते ही महारानी धारिणी ने मालविका के ऊपर कड़े पहरे बैठा दिये; और इस बात का पूरा प्रबन्ध कर दिया कि जिसमें महाराज किसी तरह, छिप लुक कर भी, मालविका से मिलने न पावैं। और रखवालों को यह भी आज्ञा देदी कि—"बिना हमारी नागमुद्रावाली अंगूठी के कोई भी मालविका से मिलने न पावै।"

[असम्पूर्ण।

जगन्नाथप्रसाद त्रिपाठी।

साहित्य ।

[पूर्व-प्रकाशित से आगे]

इन पिछली बातों के मानने पर भी मैं यह नहीं स्वीकार कर सकता कि प्रतिभा को परिश्रम की आवश्यकता ही नहीं, प्रतिभा अभ्यास से उन्नति ही नहीं कर सकती, उसमें भूल चूक होने की सम्भावना ही नहीं, और जो एक बार चित्त के उद्वेग में निकला और लिखा गया वह किसी दूसरे अवसर पर पूर्ण और संशोधित नहीं किया जा सकता। चित्रकार या शिल्पकार की ओर देखिए। जिस वस्तु को उसे प्रकट करना होता है उसकी वह पहले अपने चित्त में कल्पना कर लेता है। क्या यह कोई कह सकता है कि अपने विषय का वह अध्ययन नहीं करता? क्या वह पहले हलकी रेखायें नहीं खींच लेता है? क्या कोई कहेगा कि शकुन्तला पत्र-लेखन का आधुनिकरूप कल्पना को कुछ समय तक धैर्य्य के साथ काम में लाने से नहीं सिद्ध हुआ है? तो फिर जो बात चित्रकारी, शिल्प-विद्या और सङ्गीत के विषय में पाई जाती है वही साहित्य-रचना में भी चरितार्थ क्यों न हो? भाषा क्यों न उसी प्रकार उपयोग में लाई जाय जैसे बढ़ई की लकड़ी? शब्द क्यों न उसी प्रकार काम में लाये जायं जैसे रङ्ग? शेक्सपियर कहता है—

"The poet's eye in fine frenzy rolling
Doth glance from heaven to earth, from earth to heaven
And as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes, and gives to airy nothing
A local habitation and a name."

अर्थात्, "कवि की मतवाली दृष्टि लहराती हुई स्वर्ग से पृथ्वी और पृथ्वी से स्वर्ग तक जाती है; और जैसे जैसे कल्पना अज्ञात-पूर्व वस्तुओं का स्वरूप सामने उपस्थित करती है, उसकी लेखनी उन्हें आकार में लाती है और अदृष्ट और असार वस्तुओं को लोक में नाम और स्थान देती है"।

यह क्या कोई आश्चर्य्य की बात है जो उसकी लेखनी किसी समय भूल में पड़ जाय, कहीं विश्राम ले, काटे और फिर से लिखे? यह वह तब तक करैगी जब तक उसे यह निश्चय न हो जायगा कि उन भावों या कल्पानाओं को, जो उसके हृदय-नेत्र के सम्मुख हैं, यथावत् प्रदर्शित करने में वह कृतकार्य्य हो गई। इसके प्रमाण बहुत से कवि और ग्रन्थकार हो गये हैं। ऐडिसन (Addison) के समान स्वच्छन्द लेखक के विषय में भी किम्वदन्ती है—चाहे वह सत्य हो वा असत्य,—कि एक बार उसे कुछ राजकीय पत्रों के प्रकाशित करने में इस कारण देर हो गई कि उसे लेख को कई बार पढ़ पढ़ कर ठीक करने की आदत पड़ गई थी। ऐसे ग्रन्थकार अपने हृदयस्थित नमूने को सामने रख कर काम करते थे और ऐसे ऐसे शब्दों को निकालने के लिए यत्न और परिश्रम करते थे जिनसे वह ठीक ठीक उतारा जा सके। वरजिल (Virgil) ने अपनी एनीड (Æneid) को, यद्यपि उसकी रचना बहुत ही मनोहर है, जला देना चाहा था, क्योंकि उसने उसे सर्वाङ्ग-सुन्दर बनाने के लिए और अधिक परिश्रम आवश्यक समझा।

इन बातों से मेरा अभिप्राय उस दूषित लेखन-प्रणाली को माननीय ठहराने का नहीं है, जिसके अवलम्बी लेखकगण विषय और भाव की ओर कुछ न ध्यान करके उपयुक्त या अनुपयुक्त शब्द-रूपी भड़कीले रंग भरते चले जाते हैं। मैं उसीको स्वाभाविक चित्रकार मानता हूं जिसके नेत्रों के सामने प्रचुर और सुन्दर कल्पनायें उपस्थित हों और जिसका उद्देश्य केवल उसीको (अधिक को नहीं) यथावत् रूप से प्रदर्शित कर देने का रहता है जिसे वह कल्पित करता है, या जिसका वह अनुभव करता है।

इस चित्रकार और शिल्पकार के उदाहरण द्वारा हम और और बातों का भी निर्णय कर सकते हैं। मैं अब तक साहित्य-रचना में 'विचार' और 'भाषा' का सम्बन्ध दिखलाता आया हूं। मैं यह भी दिखला

चुका हूं कि यह अनुमान, कि भाषा एक बाहरी वस्तु है और कल्पना से भिन्न, मनुष्य की इच्छानुसार, काम में लाई जा सकती है—कहां तक सत्य है। अब एक दूसरी बात का विचार करना है। एक भाषा का किसी अन्य भाषा में सुगमता-पूर्वक अनुवादित हो जाना साहित्य-रचना के उत्तम होने की परख नहीं है। जिन लोगों को ऐसा भ्रम है वे समझते हैं कि एक भाषा ठीक दूसरी भाषा के सदृश है; और जो जो भाव, जो जो कल्पनाओं की तरङ्गें, तथा जो जो अलङ्कार और शब्द-सौन्दर्य्य एक भाषा में हैं वही दूसरी में भी हैं। हां; विज्ञान-विषयक बातों को प्रकट करने के लिए संसार की सब सभ्य भाषायें बराबर कही जा सकती हैं; किन्तु फिर भी कुछ भाषायें किसी एक वैज्ञानिक विभाग के लिए उनसे अधिक उपयुक्त होती हैं जिनमें वैज्ञानिक तत्वों के प्रतिपादन के लिए नए शब्द गढ़ना पड़ते हैं या किसी अन्य भाषा से लेना पड़ते हैं।

जब कुल भाषायें वैज्ञानिक तत्वों को सङ्केत रूप से प्रदर्शित करने में एक ही प्रकार से उपयुक्त नहीं हैं, तब कब सम्भव है, कि संसार की सब भाषायें समान प्रभाव-शालिनी, समान सरस और किसी सम्पन्न अन्तःकरण की जातीय रुचिर कल्पनाओं की समान व्यञ्जक हों। एक बड़ा ग्रन्थकार अपनी मातृभाषा को चुन लेता है; उसको अध्ययन करता है; उसको पढ़ता और उपयुक्त बनाता है; और तब अपनी कल्पनाओं के समुदाय को उस अपनी प्राप्त की हुई और बनाई हुई भाषा की नलिओं द्वारा बहाता है। अब यह कैसे हो सकता है कि यह सृष्टि जो उसकी निज की है, भूमण्डल की किसी दूसरी भाषा में परिवर्तित कर दी जा सके। कुछ लोग समझते हैं कि ग्रन्थकार वही श्रेष्ठ है जिसकी रचना किसी दूसरी भाषा में अनुवादित हो सके, अर्थात् एक ग्रन्थकार का भाव एक भाषा में उसी रुचिरता के साथ समझा जाय जैसा कि दूसरी में। इस सिद्धान्त से तो पहाड़े संसार की सब साहित्य-रचना से उत्कृष्ट ठहरते हैं; क्योंकि अनुवाद करने से उनका कोई भाग नष्ट नहीं होता और वे किसी एक भाषा की सम्पत्ति नहीं कहे जा सकते। मैं तो यह समझता हूं कि कल्पनायें जितनी ही अद्भुत और नवीन होंगी, उतना ही उनको शब्दों में लाना कठिन होगा; उनका किसी एक भाषा में प्रादुर्भाव होना ही उनके किसी अन्य भाषा में कहे जाने की सम्भावना को कम कर देता है। जङ्गली जातियों की भाषाओं में मुश्किल से कोई उत्तम कल्पना या बुद्धि-विषयक बात प्रगट की जा सकती है। हाटेंटाट (Hottentot) वायसकिमक्स (Esquimaux) लोगों की भाषा से क्या कालिदास, भवभूति और शेक्सपियर की प्रतिभा भी नापी जा सकती है?

अब फिर हम अपने शिल्पकार और चित्रकार के उदाहरण की ओर झुकते हैं। जो बात चित्रकार अपने पटल पर प्रगट कर सकता है, कारीगर उसे पत्थर पर नहीं कर सकता। एक व्यक्ति जितना ही अधिक किसी कलाविशेष के नियमों और शैलियों के अनुसार अपने गुण को ले चलेगा, उतना ही कम वह उसको किसी दूसरी कला की ओर लगा सकेगा। हर एक कला-कौशल का धर्म्म जुदा जुदा होता है, जो आप एक के द्वारा कर सकते हैं, दूसरे के द्वारा नहीं कर सकते; जो आप चित्रकारी में प्रगट कर सकते हैं पच्चीकारी में नहीं; जो वस्तु आप स्फटिक पर प्रदर्शित कर सकते हैं, वह हाथी दांत पर नहीं। ठीक यही बात भिन्न भिन्न भाषाओं के विषय में भी चरितार्थ होती है। हम संस्कृत साहित्य को इस कारण क्यों दूषित मान लें कि उसका अनुवाद अङ्गरेज़ी में नहीं हो सकता? वह मनोहरता जो उसमें है, अङ्गरेज़ी के लिए नहीं बनाई गई। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भाषा किसी जातिविशेष को सम्पत्ति है जिसका रहन सहन और स्वभाव उसमें चित्रित रहता है और जो उसी जाति की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए बनाई गई है।